CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य समन्तभद्र

संगोष्ठी

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।।

मेरठ

१३–१४ फरवरी १९९५ ई०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजा आदि कुमार का केशलोंच करते हुए उपाध्याय श्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

11'5

आचार्य समन्तभद्र संगोष्ठी

(मेरठ, 13-14 फरवरी 1995 ई०)

उदयचन्द्र जैन
वाराणसी

सम्पादक

प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन
१०४, नई बस्ती,
फिरोजाबाद (उ०प्र०)

डा० जयकुमार जैन
२६१/३, पटेलनगर, नई मण्डी,
मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)

श्री दि. जैन (शोध) संस्थान
सं० 4607
(का. हि. वि. वि.) वाराणसी

प्रकाशक

आचार्य शान्तिसागर (छाणी) स्मृति ग्रन्थमाला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्मारिका

आचार्य समन्तभद्र संगोष्ठी

(मेरठ, १३-१४ फरवरी, १९९५ ई०)

सम्पादक

प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन

डा० जयकुमार जैन

अर्थसौजन्य

श्री दिगम्बर जैन पंचकल्याणक समिति

वीरनगर, मेरठ (उ० प्र०)

प्राप्ति-स्थान

डा० जयकुमार जैन

२६१/३, पटेलनगर, मुजफ्फरनगर-२५१००१

दूरभाष-०१३१-४०३७३०

प्रकाशक

आचार्य शान्तिसागर (छाणी) स्मृति ग्रन्थमाला

मुद्रक

देव प्रिण्टर्स

५९, पटेलनगर, मुजफ्फरनगर-२५१००१

दूरभाष : ०१३१-४०४५५७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थमाला सम्पादकीय

श्री दिगम्बर जैन जिनबिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के मंगल अवसर पर परमपूज्य उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज के ससंघ पावन सान्निध्य में दिनांक १३ एवं १४ फरवरी १९९५ ई० में मेरठ नगर में आचार्य समन्तभद्र पर एक संगोष्ठी का आयोजन पंचकल्याण समिति वीरनगर, मेरठ के सौजन्य से सम्पन्न हुआ था। इस संगोष्ठी के संयोजकत्व का गुरुतर भार रचनामधन्य, जैन जगत् के बहुश्रुत मनीषी विद्वान् प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन फीरोजाबाद ने निर्वाह किया था। उनके कुशल मार्गदर्शन पूर्ण संयोजन में देश के विविध प्रान्तों से पधारे जैन जगत् के प्रसिद्ध विद्वानों ने संगोष्ठी में अपने शोध-आलेखों का वाचन किया था। श्री दि० जैन पंचकल्याण समिति वीरनगर से पूज्य उपाध्याय श्री से निवेदन किया था कि यदि ये लेख पुस्तकाकार प्रकाशित हो जायें तो समाज अधिक लाभान्वित हो सकेगी। पूज्य उपाध्यायश्री ने इनकी उपयोगिता देखकर अपना मंगल आशीर्वाद दे दिया था।

प्रकाशन का कार्य कितना कष्टसाध्य है, यह कोई इस कार्य से जुड़ा व्यक्ति ही जान सकता है। दो वर्ष तक कुछ परिस्थितियोंवश यह कार्य सम्पन्न न हो सका। मेरठ की समाज के पौनःपुन्येन अनुरोध से इसे आचार्य शान्तिसागर (छाणी) स्मृति ग्रन्थमाला से प्रकाशित किया जा रहा है। अद्यावधि इस ग्रन्थमाला से लगभग पन्द्रह स्तरीय ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है तथा समाज में इन्हें पर्याप्त सम्मान मिला है। सम्प्रति पूज्य उपाध्याय श्री के आशीर्वाद के सुफल के रूप में यह कृति आपके समक्ष है। प्रकृत स्मारिका को प्रकाशित करने में ग्रन्थमाला ने पूर्ण निष्ठा से कार्य किया है। फिर भी अज्ञान या प्रमादजन्य जो त्रुटियाँ रह गई हैं, उनके लिए मैं विनम्र भाव से क्षमा प्रार्थी हूँ, आभारी हूँ। संगोष्ठी संयोजक आदरणीय प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन का जिनकी कृपा से ये लेख ग्रन्थमाला को प्रकाशनार्थ मिल सके, उन प्रसिद्ध लेखक महानुभावों का, जिनके लेखों का प्रकाशन इसमें हो रहा है तथा भैया ब्र० अतुल का, जिनकी प्रेरणा इस कार्य को शीघ्र पूर्ण करने में प्रमुख रही है। अन्त में पूज्य उपाध्याय श्री के चरणकमलों में विनम्र नमोऽस्तु।

विनीत

डा० जयकुमार जैन

ग्रन्थमाला सम्पादक

आ० शान्तिसागर (छाणी) स्मृति ग्रन्थमाला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषयानुक्रमणिका

१. असाधारण वाग्मिता के धनी आचार्य समन्तभद्र : एक प्रभावक व्यक्तित्व ६
-प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन

२. आचार्य समन्तभद्र और उनका कालनिर्णय १३
-डा० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

३. रत्नकरण्डश्रावकाचार : आद्य श्रावकाचार १८
-डा० रमेश चन्द्र जैन

४. रत्नकरण्ड तथा अन्यान्य श्रावकाचार : एक तुलनात्मक विवेचन २६
-प्रो० राजाराम जैन

५. श्रावकाचारों का क्रमिक विकास-एक अध्ययन ४६
-डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

६. जैन आचार संहिता के मूलाधार : श्रावक व्रत ५७
-डा० प्रेमसुमन जैन

७. श्रावकाचार का विज्ञान ६४
-डा० अभयप्रकाश जैन

८. आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित धर्म ७३
-डा० अशोक कुमार जैन

९. सम्यक्त्व और चारित्र : किसका कितना महत्व ७९
-पं० शिवचरण लाल जैन

१०. अखण्ड शान्ति का स्रोत : अपरिग्रह ८९
-डा० श्रेयांस कुमार जैन

११. सम्यग्ज्ञान में चार अनुयोगों की उपयोगिता ९५
-डा० जयकुमार जैन

१२. सल्लेखना : मृत्यु का मंगल महोत्सव १०२
-प्राचार्य निहालचन्द जैन

१३. रत्नकरण्डश्रावकाचार और देवमूढ़ता १०७
-श्री निर्मल जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य शान्तिसागर (छाणी) और उनकी परम्परा

बीसवीं शती में दिगम्बर जैन मुनि परम्परा कुछ अवरुद्ध–सी हो गई थी, विशेषतः उत्तरभारत में। शास्त्रों में मुनि–महाराजों के जिस स्वरूप का अध्ययन करते थे, उसका दर्शन असम्भत–सा था। इस असम्भव को दो महान् आचार्यों ने सम्भव बनाया, दोनों सूर्यों का उदय लगभग समकालिक हुआ, जिनकी परम्परा से आज हम मुनिराजों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त करते हैं और अपने मनुष्यजन्म को धन्य मानते हैं।

ये दो आचार्य हैं चारित्रचक्रवर्ती आचार्य १०८ श्री शान्तिसागर महाराज (दक्षिण) और प्रशान्तमूर्ति आचार्य १०८ श्री शान्तिसागर जी महाराज (छाणी)। कैसा संयोग है कि दोनों ही शान्ति के सागर हैं। दोनों ही आचार्यों ने भारतभर में मुनि– धर्म व मुनिपरम्परा को वृद्धिंगत किया। दोनों आचार्यों में परस्पर में अत्यधिक मेल था, यहाँ तक कि ब्यावर (राजस्थान) में दोनों का ससंघ एक साथ चातुर्मास हुआ था।

प्रशान्तमूर्ति आचार्य शान्तिसागर जी का जन्म छाणी, जिला उदयपुर (राज०) में हुआ था, पर सम्पूर्ण भारत में परिभ्रमण कर भव्य जीवों को उपदेश देते हुए सम्पूर्ण भारतवर्ष, विशेषतः उत्तरभारत को उन्होंने अपना भ्रमण क्षेत्र बनाया। उनका बचपन का नाम केवलदास था, जिसे उन्होंने वास्तव में अन्वयार्थक (केवल=अद्वितीय, अनोखा, अकेला) बना दिया। दीक्षोपरान्त आचार्य महाराज ने अनेकत्र विहार किया। वे प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी थे। उन्होंने समाज में फैली कुरीतियों को दूर करने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी। मृत्यु के बाद छाती पीटने की प्रथा, दहेज प्रथा, बलिप्रथा आदि का उन्होंने डटकर विरोध किया। "छाणी" के जमींदार ने तो उनके अहिंसा–व्याख्यान से प्रभावित होकर अपने राज्य में सदैव के लिए हिंसा का निषेध करा दिया था और अहिंसा धर्म अंगीकार कर लिया था।

आचार्यश्री पर घोर उपसर्ग हुए, जिन्हें उन्होंने समताभाव से सहा। उन्होंने 'मूलाराधना', 'आगमदर्पण', 'शान्तिशतक', 'शान्तिसुधासागर' आदि ग्रन्थों का संकलन/प्रणयन किया, जिन्हें समाज ने प्रकाशित कराया, जिससे आज हमारी श्रुतपरम्परा सुरक्षित और वृद्धिंगत है।

इनके अनेक शिष्य हुए। जिनमें आचार्य सूर्यसागर जी बहुश्रुत विद्वान् थे। दिगम्बर जैन परम्परा में कुछ ही साधु ऐसे हैं, जो साहित्यसपर्या के माध्यम से जैन साहित्य को सुदृढ़ और स्थायी बना सके हैं। आचार्य सूर्यसागर जी उनमें एक थे। उन्होंने लगभग ३५ ग्रन्थों का संकलन/प्रणयन किया और समाज ने उन्हें प्रकाशित कराया। 'संयमप्रकाश' उनका अद्वितीय बृहत् ग्रन्थ है, जिसके दो भागों (दस किरणों) में श्रमण और श्रावक के कर्तव्यों का विस्तार से विवेचन है। संयमप्रकाश सचमुच में संयम का प्रकाश करने वाला है, चाहे श्रावक का संयम हो चाहे श्रमण का।

आचार्य सूर्यसागर जी का आचार्य पद पूज्य मुनिश्री विजयसागर जी महाराज को लश्कर में दिया गया था। आचार्य विजयसागर जी महाराज परमतपस्वी वचनसिद्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य थे। कहा जाता है कि एक गांव में खारे पानी का एक कुआँ था, लोगों ने आचार्य श्री से कहा कि हम सभी ग्रामवासियों को खारा पानी पीना पड़ता है, आचार्य श्री ने सहज रूप में कहा—'देखो पानी खारा नहीं मीठा है' उसी समय कुछ लोग कुएँ पर गये और आश्चर्य कि पानी खारा नहीं मीठा था। आपके ऊपर उपसर्ग आये, जिन्हें आपने शान्तिभाव से सहा, आपकी समाधि ग्वालियर (मुरार) में श्री दीनानाथ जी बगीची के सामने जैन बगीची में है।

आचार्य विजयसागर जी के शिष्यों में आचार्य विमलसागर जी सुयोग्य शिष्य हुए। आप प्रतिभाशाली आचार्य थे। आपके सदुपदेश से अनेकों जिनालयों का निर्माण और जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा हुई। आपके सानिध्य में अनेक पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें व गजरथ महोत्सव सम्पन्न हुए। भिण्ड नगर को आपकी विशेष देन है। आपका जन्म मोहना (म०प्र०) में तथा पालन—पोषण पीरोठ में हुआ अतः आप 'पीरोठ वाले महाराज' साथ ही भिण्ड नगर में अनेक जिनबिम्बों की स्थापना कराने के कारण 'भिण्ड वाले महाराज' के नाम से विख्यात रहे हैं। आ० विजयसागर जी ने अपना आचार्यपद विमलसागर जी महाराज (भिण्ड) को दिया।

आचार्य विमलसागर जी ने अनेक दीक्षायें दीं उनके शिष्यों में आचार्य सुमतिसागर जी, आचार्य निर्मलसागर जी, आचार्य कुन्थुसागर जी, मुनि ज्ञानसागर जी आदि अतिप्रसिद्ध हैं। आचार्य विमलसागर जी महाराज ने अपना आचार्य पद ब्र० ईश्वरलाल जी के हाथ पत्र द्वारा सुमतिसागर जी को दिया था।

आचार्य सुमतिसागर जी कठोर तपस्वी और आर्षमार्गानुयायी थे। आपने अनेक कष्टों और आपदाओं को सहने के बाद दिगम्बरी दीक्षा धारण की थी। आपके जीवन में अनेक उपसर्ग और चमत्कार हुए थे। पं० मक्खनलाल जी मुरैना जैसे उद्भट विद्वानों का संसर्ग आपको मिला। आप मासोपवासी कहे जाते थे। आपके उपदेश से अनेक आर्षमार्गानुयायी ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। सोनागिर स्थित त्यागी व्रती आश्रम आपकी कीर्तिपताका फहरा रहा है। आपने शताधिक दीक्षायें अब तक प्रदान की थीं। आपके प्रसिद्ध शिष्यों में उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज प्रमुख हैं। ऐसे आचार्यों, उपाध्यायों मुनिवरों, गुरुवरों को शत—शत नमन, शत—शत वन्दन।

सन् १९५८ ई० में मध्यप्रदेश के मुरैना शहर में उपाध्यायश्री का जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम श्री शान्तिलाल जी एवं माता का नाम श्रीमती अशर्फी है। इनके बचपन का नाम उमेशकुमार था। इनके दो भाई एवं बहिनें हैं। भाइयों का नाम श्री राकेश कुमार एवं प्रदीपकुमार है तथा बहिनों के नाम सुश्री मीना एवं अनीता है। आपने ५—११—७६ को सिद्धक्षेत्र सोनागिर जी में आचार्य श्री सुमतिसागर जी महाराज से क्षुल्लक दीक्षा धारण की थी तथा आपको क्षुल्लक गुणसागर नाम मिला था। १२ वर्ष तक निर्दोष क्षुल्लक की चर्या पालने के बाद आपको आचार्य सुमतिसागर महाराज ने ३—११—८८ को सोनागिर सिद्धक्षेत्र में मुनिदीक्षा देकर श्री ज्ञानसागर महाराज नाम से अलंकृत किया। सरधना में ३—१—८९ को आपको उपाध्याय पद प्रदान किया गया। उपाध्याय श्री के चरणकमल जहाँ पड़ते हैं, वहाँ जंगल में मंगल चरितार्थ हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उमेश से उपाध्याय मुनि १०८ ज्ञानसागर :
सफरनामा एक अनेकान्तिक साधक का

अभीक्ष्ण ज्ञान की सम्पदा से सिक्त उपाध्याय श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज का व्यक्तित्व एवं कृतित्व एक ऐसे क्रान्तिकारी साधक की अनवरत साधना-यात्रा का वह अनेकान्तिक दस्तावेज है जिसने समय के नाट्य-गृह में अपने सप्तभंगी प्रज्ञान के अनेकों रंग बिखेरे हैं। चम्बल के पारदर्शी नीर और उसकी गहराई ने मुरैना में वि० सं० २०१४ वैशाख सुदी दोयज को जन्मे बालक उमेश को पिच्छि-कमण्डलु की मैत्री के साथ अपने बचपन की उस बुनियाद को मजबूत कराया जिसने उस निर्बाध मार्ग का सहज, पर समर्पित पथिक बना दिया। शहर में आने वाले हर साधु-साध्वी के प्रति बचपन से विकसित हुए अनुराग ने माता अशर्फी बाई और पिता शान्ति लाल को तो हर पल सशंकित किया पर बालक उमेश का आध्यात्मिक अनुराग हर पल पल्लवित और पुष्पित होता रहा। और इसकी परिणति हुई सन् १९७४ में उस प्रतीक्षित फैसले से, जब किशोर उमेश ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत को अंगीकार किया एवं दो वर्षों बाद, पाँच नवम्बर उन्नीस सौ छिहत्तर को क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। उमेश से रूपान्तरित हुए क्षुल्लक गुणसागर ने बारह वर्षों तक आगम ग्रन्थों, साहित्य एवं भाषा का अध्ययन किया, युग के महान् सन्त आचार्य श्री विद्यासागर जी की पावन सन्निधि में तत्वज्ञान का पारायण किया तथा महावीर जयन्ती के पावन प्रसंग पर इकत्तीस मार्च उन्नीस सौ अठासी को आचार्य सुमतिसागर जी महाराज से मुनि धर्म की दीक्षा ग्रहण की और तब आविर्भाव हुआ उस युवा, क्रान्तिदृष्टा तपस्वी का, जिसे मुनि ज्ञानसागर के रूप में युग ने पहचाना और उनका गुणानुवाद किया।

निर्ग्रन्थ रूप में प्रतिष्ठित इस दिगम्बर मुनि ने जहाँ आत्म-शोधन के अनेकों प्रयोग किये, साधना के नये मानदण्ड संस्थापित किये, उदात्त चिन्तन की ऊर्जस्वी धारा को प्रवाहमान कर तत्वज्ञान को नूतन व्याख्याओं से समृद्ध किया, वहीं पर अपनी करुणा, आत्मीयता और संवेगशीलता को जन-जन तक विस्तीर्ण कर भगवान महावीर की **सत्वेषु मैत्री** की अवधारणा को भी संवर्द्धित किया। मध्यप्रदेश की प्रज्ञान-स्थली सागर में मुनिराज का प्रथम चातुर्मास, तपश्चर्या की कर्मस्थली बना और यहीं से शुरु हुआ आध्यात्मिक अन्तर्यात्रा का वह अथ जिसने प्रत्येक कालखण्ड में नये-नये अर्थ गढ़े और संवेदनाओं की समझ को साधना की शैली में अन्तर्लीन कर लिया।

आगामी वर्षों में मुनि ज्ञानसागर जी ने जिनवाणी के आराधकों से स्थापित किया एक सार्थक संवाद ताकि आगम ग्रन्थों में निबद्ध रहस्यों को सामान्य जनों तक बोधगम्य भाषा और शैली में सम्प्रेषित किया जा सके। सरधना, शाहपुर, खेकड़ा, गया, राँची, अम्बिकापुर, मेरठ, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर में विद्वत्संगोष्ठियों के आयोजन ने बहुत से अनुत्तरित प्रश्नों के जहाँ एक ओर उत्तर खोजे वहीं दूसरी ओर शोध एवं समीक्षा के लिये नये सन्दर्भ भी परिभाषित किये गये। अनुपलब्ध ग्रन्थों के पुनर्प्रकाशन की समस्या को इस ज्ञान-पिपासु ने समझा और सराहा। इस क्षेत्र में गहन अभिरुचि के कारण सर्वप्रथम बहुश्रुत श्रमण परम्परा के अनुपलब्ध प्रामाणिक शोध-ग्रन्थ, स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा सर्जित साहित्य सम्पदा **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (चारों भाग)** के पुनर्प्रकाशन की प्रेरणा की, जिसे सुधी श्रावकों ने अत्यल्प समयावधि में परिपूर्ण भी किया। इतना ही नहीं, आधुनिक कालखण्ड में भुला दिये गये सन्तों एवं विद्वानों के कृतित्व से समाजको परिचित कराने का भी गुरुकार्य इन्होंने किया, जिसकी परिणतिस्वरूप आचार्य शान्तिसागर छाणी स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन से एक ओर विस्मृत से हो रहे उस अत्यन्त पुरातन साधक से समाज परिचित कराया जिसने सम्पूर्ण उत्तर भारत में दिगम्बर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण परम्परा को उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अभिवृद्ध करने का गुरु-कार्य किया था तो दूसरी ओर सुप्रसिद्ध जैन दर्शन-विद् स्व० पं० महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य की स्मृति में एक विशाल स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन की प्रेरणा कर मात्र एक जिनवाणी-आराधक का गुणानुवाद ही नहीं किया प्रत्युत् नयी पीढ़ी को उस महान् साधक के अवदानों से परिचित भी कराया। इस तपःपूत ने वैचारिक क्रान्ति का उद्घोष किया इस आशा और विश्वास के साथ कि आम आदमी के समीप पहुँचने के लिये उसे उसकी प्रतिदिन की समस्याओं से मुक्ति दिलाने के उपाय भी संस्तुत करने होंगे। तनावों से मुक्ति कैसे हो, व्यसन मुक्त जीवन कैसे जिएँ, पारिवारिक सम्बन्धों में सौहार्द कैसे स्थापित हो तथा शाकाहार को जीवन-शैली के रूप में कैसे प्रतिष्ठापित किया जाए, आदि यक्ष प्रश्नों को बुद्धिजीवियों, प्रशासकों, पत्रकारों, अधिवक्ताओं शासकीय/अर्द्धशासकीय एवं निजी क्षेत्रों के कर्मचारियों व अधिकारियों, व्यवसायियों, छात्रों-छात्राओं आदि के साथ परिचर्चाओं, कार्य शालाओं, गोष्ठियों के माध्यम से उत्तरित कराने के लिये एक ओर एक रचनात्मक संवाद स्थापित किया तो दूसरी ओर श्रमण संस्कृति के नियामक तत्वों एवं अस्मिता के मानदण्डों से जन-जन को दीक्षित कर उन्हें जैनत्व की उस जीवन-शैली से भी परिचित कराया जो उनके जीवन की प्रामाणिकता को सर्वसाधारण के मध्य संस्थापित करती है।

इस खोजी साधक ने प्रेम और करुणा के व्यावहारिक प्रयोग किये और कंक्रीट संस्कृति से दूर पहुँचे झारखण्ड के उन अरण्यों में जहाँ बिरसा और मुण्डा जाति के आदिवासियों के साथ लाखों की तादाद में बसते हैं अत्यन्त पुरातन जैन श्रावक जिन्हें समय की शिला पर पड़ी धूल ने सिर्फ नाम का अपभ्रंश कर उन्हें सराक ही नहीं बना दिया प्रत्युत् उन्हें उनके कुल-गौरव पार्श्व प्रभु की परम्परा को भी विस्मृत कराने पर मजबूर कर दिया। इन भूले-बिसरे भाइयों को विहार, बंगाल तथा उड़ीसा में अलग-थलग जीवन जीने के स्थान पर सम्पूर्ण देश की श्रमण धारा से जोड़ने के लिये अनेकों कल्याणकारी योजनाएँ संचालित कीं जिनमें रघुनाथपुर एवं अनाईजामाबाद के पुनर्वास केन्द्र, पुराने जीर्ण-शीर्ण जिनालयों का जीणोद्धार, सुदूर अंचलों में नये जिनालयों का निर्माण, तकनीकी शिक्षा केन्द्रों की स्थापना, रोजगार के लिये उपस्करों का प्रबन्ध, छात्रवृत्तियों का वितरण, कुशल बेरोजगारों को रोजगार एवं नौकरियों की उपलब्धता एवं इन सभी के सफल संचालन के लिये सुधी जनों को प्रेरित कर ट्रस्ट के माध्यम से समस्त गतिविधियों को कार्यान्वित कराने की प्रेरणा की है। यही कारण है कि इस साधनापूत से प्रभावित हो जहाँ एक ओर श्री मोतीलाल बोरा, श्री अजितसिंह, श्री नारायण दत्त तिवारी, श्री साहिब सिंह वर्मा, श्री इन्दर सिंह नामधारी आदि राजनेताओं ने दर्शन लाभ कर आशीर्वाद प्राप्त किये हैं, वहीं दूसरी ओर डॉ० कृष्ण कुमार नाग, श्री राजेन्द्र यादव, श्री अरविन्द जैन, डॉ० नेमीचन्द आदि बुद्धिजीवियों, पत्रकारों ने एवं साहू अशोक कुमार जैन, साहू रमेशचन्द्र जैन, श्री पूनम चन्द गंगवाल, श्री उम्मेदमल पाण्ड्या, श्री निर्मल कुमार सेठी आदि प्रमुख उद्योगपतियों ने भी पूज्य गुरुदेव से मंगल आशीष प्राप्त किये हैं।

पूज्य उपाध्याय श्री १०८ उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज का जीवन क्रान्ति का श्लोक है, साधना और मुक्ति का दिव्य छन्द है तथा है मानवीय मूल्यों की वन्दना एवं जन-चेतना के सर्जनात्मक परिष्कार एवं उसके मानसिक सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य के विकास का वह भागीरथ प्रयत्न जो स्तुत्य है, वंदनीय है और है जाति, वर्ग, सम्प्रदाय भेद से परे पूरी इन्सानी जमात को समर्पित एक छोटा पर बहुत स्थिर और मजबूती भरा कदम। निःसन्देह यह होगा आने वाली पीढ़ी के लिये एक प्रकाश-स्तम्भ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

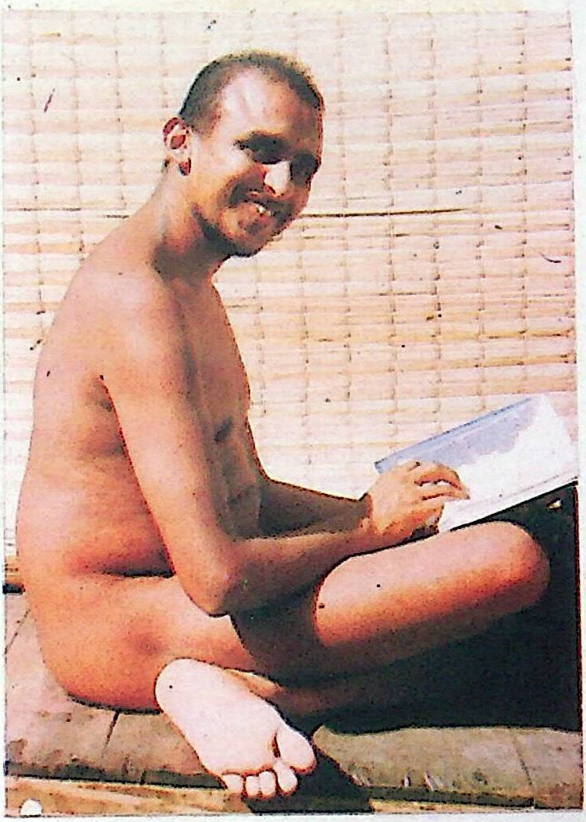

सराकोद्धारक परमपूज्य
उपाध्याय १०८ श्री ज्ञानसागर महाराज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असाधारण वाग्मिता के धनी
आचार्य समन्तभद्र : एक प्रभावक व्यक्तित्व

—प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन,
फीरोजाबाद

एक छोटा-सा प्रसंग इसी बीसवीं सदी के पूर्वार्ध का ध्यान में आ रहा है। आर्यसमाजी और जैन विद्वानों के बीच शास्त्रार्थ चल रहा था। आर्यसमाजी विद्वान् ने जैन विद्वान् से पूछा—'धर्म कौन सा बड़ा या महान् है?' जैन विद्वान् ने तपाक से कह दिया—'जिसका वक्ता बलवान हो।' आर्यसमाजी विद्वान् इस उत्तर को सुनकर सहम और सिटपिटा-सा गया। बाद में शास्त्रार्थ में जैन विद्वान् (स्व० पं० पन्नालाल जी न्यायदिवाकर) की विजय ने उनके कथन की सत्यता भी सिद्ध कर दी। आर्यसमाजी विद्वान् को उनकी वाद और वाक् शक्ति के सामने नत होना पड़ा। उसने यह स्वीकार किया—"सचमुच किसी धर्म की महानता को कोई बलवान वक्ता ही प्रस्थापित कर सकता है और वही वक्ता बलवान होता है जिसने धर्म-दर्शन के क्षेत्र में अपने गहन अध्ययन-मनन और चिन्तन से अगाध पाण्डित्य प्राप्त किया हो, जो प्रत्युत्पन्नमति और विरोधी के हर तर्क का उत्तर देने में समर्थ हो तथा जिसमें गहरा आत्मविश्वास भी हो।"

जैनधर्म-दर्शन के परम प्रभावक आचार्य समन्तभद्र भी अपने समय के एक ऐसे ही प्रवीण वाग्मी एवं दिग्गज शास्त्रार्थी थे। वह जैन न्याय, धर्म, दर्शन, साहित्य और व्याकरण के उद्‌भट विद्वान् तो थे ही, षड् दर्शनों का भी उन्हें तलस्पर्शी ज्ञान था। अनेक स्थानों पर विभिन्न धर्मानुयायियों से इनका वाद हुआ किन्तु इनकी स्याद्वाद प्रधान तर्कणा-शक्ति के सामने कोई भी विद्वान् टिक नहीं सका। वह शास्त्रार्थ के लिए डंका बजाकर स्वत: विद्वानों को आमन्त्रित किया करते थे किन्तु अधिकांश स्थानों पर कोई उनका सामना करने के लिए आगे नहीं आता था। वह अपराजेय व्यक्तित्व के धनी थे। विभिन्न शिलालेखों में उन्हें 'स्याद्वाद का अग्रणी नेता', 'जिनशासन प्रणेता' और 'वीरशासन की सहस्त्रगुणा वृद्धि करने वाला' कहा गया है।

शास्त्रार्थ महारथी :

'हिस्ट्री ऑफ कनडीज लिटरेचर' के अनुसार विक्रम की प्रारम्भिक सदियों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में चुनौती देने और स्वीकार करने का रिवाज प्रचलित था। चीन यात्री फाहियान (ई० ४००) ने लिखा भी है–"उस समय यह दस्तूर था कि नगर में किसी सार्वजनिक स्थान पर एक नगाड़ा रखा जाता था और जो कोई विद्वान् अपने मत का प्रचार करना चाहता था शास्त्रार्थ के माध्यम से अपनी योग्यता का परिचय देने की इच्छा रखता था तो वह उस नगाड़े पर चोट मारकर सबको यह सूचना देता था।" आचार्य समन्तभद्र ने भी लोकहित की भावना से सम्पूर्ण देश में भ्रमण करते हुए अनेक स्थानों पर भेरी-ताड़न द्वारा सूचना देकर वाद के लिए चुनौती दी थी। एतद्विषयक एक परिचयात्मक श्लोक श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ५४ में इस प्रकार अंकित है–

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालव-सिन्धु-ढक्क-विषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्।।

आचार्य समन्तभद्र ने करहाटक पहुँचने से पूर्व पाटलिपुत्र, मालवा, सिन्धु, ढक्क देश (पंजाब), कांचीपुर और विदिशा में वाद-भेरी बजाई थी परन्तु वहाँ किसी ने भी उनका विरोध नहीं किया था। 'अलंकारचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ में श्री अजितसेनाचार्य ने उनके वाद-कौशल के सम्बन्ध में लिखा है–"कुवादीजन प्राय: अपनी स्त्रियों के सामने तो अपनी बहादुरी की डींगें हाँका करते थे किन्तु जब आचार्य समन्तभद्र से उनका आमना-सामना होता था तो वे अत्यन्त विनम्र और मधुरभाषी बन जाते थे, नीचा मुख कर अंगूठे से पृथ्वी कुरेदा करते थे तथा किंर्त्तव्यविमूढ़ होकर उनसे रक्षा करने की गुहार करने लगते थे।"

आचार्य समन्तभद्र के वाद-कौशल की धाक उस समय सम्पूर्ण देश में थी। उनके असाधारण व्यक्तित्व की प्रशंसा परवर्ती आचार्यों सर्वश्री विद्यानन्द स्वामी, अकलंकदेव, जिनसेन, वादिराज, वादीभसिंह सूरि, वसुनन्दि आदि ने मुक्तकण्ठ से की है तथा उन्हें भव्यैकलोकनयन, सुतर्कशास्त्रामृतसारसागर, वरगुणालय, महाकवीश्वर, सम्यग्ज्ञानमूर्ति आदि महनीय विशेषणों से अलंकृत किया है। आचार्य नरेन्द्रसेन ने तो अपने ग्रन्थ 'सिद्धान्तसार संग्रह' में यहाँ तक लिखा है कि समन्तभद्र का निर्दोष प्रवचन प्राणियों के लिए ऐसा ही दुर्लभ है, जैसा कि मनुष्यत्व का पाना।

संक्षिप्त जीवन-परिचय :

आचार्य समन्तभद्र का जन्म दक्षिण भारत की कांची नगरी में हुआ था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनका जन्म-नाम शान्तिवर्मा था। ब्रह्म नेमिदत्त के अनुसार वह एक क्षत्रिय राजपुत्र थे। उनके पिता उदगपुर के राजा थे। बचपन से ही जैनधर्म में उनकी अगाध श्रद्धा थी। युवा होने पर उन्होंने राज्य-वैभव का मोह छोड़कर दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली थी। उनका समय आत्मचिन्तन, पठन-पाठन और ग्रन्थ-रचना में सानन्द व्यतीत होता था। मुनिधर्म का निर्दोष पालन करते हुए वह दुस्सह तप तपते थे। वह आचारांग में प्रतिपादित चर्या के अनुसार अनेक व्रतों का अनुष्ठान करते रहते थे।

असाता वेदनीय कर्म के तीव्र उदय से उन्हें भस्मक व्याधि हो गई। तीव्र क्षुधा-वेदना उन्हें सताने लगी। मुनि के अनुकूल अल्प और नीरस भोजन से सुरसा के मुख की तरह वृद्धि को प्राप्त उनकी क्षुधा की पूर्ति नहीं हो सकती थी। उनका शरीर दिनोंदिन दुर्बल होता गया किन्तु वह मुनिचर्या का निरतिचार पालन करते रहे।

भस्मक रोग का शमन प्रचुर मात्रा में पौष्टिक एवं स्निग्ध भोजन मिलने पर ही सम्भव है। दिगम्बर मुनि के रूप में विचरण करते हुए ऐसा साधन नहीं मिल सकता था। उन्होंने अपने दीक्षा-गुरु से समाधि लेने की आज्ञा मांगी किन्तु दीक्षा-गुरु ने अपने निमित्तज्ञान से यह जानकर कि इनके द्वारा जिनशासन का महान् उपकार होने वाला है, उन्हें मुनि-पद छोड़कर जैसे बने वैसे रोग-शान्ति का उपाय करने का निर्देश दिया। मुनि-जीवन का परित्याग करते समय उन्हें अनिर्वचनीय मानसिक कष्ट हुआ किन्तु गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य कर भोजन की तलाश में वह कभी बौद्धभिक्षु बनकर तो कभी वैष्णव संन्यासी बनकर इतस्ततः घूमते रहे किन्तु अनूकूल भोजन-व्यवस्था नहीं हो सकी। अन्त में वह वाराणसी के राजकीय मन्दिर मे आए और उन्होंने वहाँ घोषणा की कि वह शिवजी की मूर्ति को भोग खिला सकते हैं। उनकी भव्य मुखाकृति से प्रभावित वहाँ के राजा शिवकोटि ने उन्हें मन्दिर में रहने की इजाजत दे दी। मन्दिर में चढ़ाई जाने वाली भोग-सामग्री से छह माह में उनकी भस्मक व्याधि शान्त हो गई और तब भोजन बचने लगा। जाँच-पड़ताल के बाद यह भेद खुल गया कि यह तथाकथित शैव साधु भोग-सामग्री शिवजी को न खिलाकर स्वयं खाता रहा है। राजा ने कुपित होकर उन्हें शिवजी की मूर्ति को नमस्कार करने की आज्ञा दी। आचार्य समन्तभद्र ने 'स्वयंभूस्तोत्र' की रचना की। उनकी भक्ति-भावना को देखकर शासनदेवी अम्बिका ने शिव-पिण्डी के स्थान पर चन्द्रप्रभ भगवान की मूर्ति विराजमान कर दी और इस तरह आसन्न संकट टल गया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और धर्म की महती प्रभावना हुई।

रचनायें :

आचार्य समन्तभद्र की पाँच कृतियाँ उपलब्ध होती हैं–(१) देवागम (आप्तमीमांसा), (२) स्वयंभूस्तोत्र, (३) युक्त्यनुशासन, (४) जिनशतक एवं (५) रत्नकरण्डश्रावकाचार। उन्होंने स्तुति-विद्या का मुख्यत: उद्धार, संस्कार और विकास किया है। स्तुति-कला के माध्यम से तत्त्वज्ञान का प्रकाश विकीर्ण करने में वह बेजोड़ हैं। उनका 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' जन सामान्य में अत्यधिक लोकप्रिय है। श्रावकधर्म का निरूपण करने वाला वह आद्य ग्रन्थ है।

आचार्य समन्तभद्र एक परीक्षाप्रधानी संत थे। उनके वचन युक्ति और आगम की कसौटी पर खरे सिद्ध होते हैं। उन सरीखा तार्किक विद्वान् मिलना दुर्लभ है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से भारत का गौरव बढ़ाया है। 'पाण्डवपुराण' में आचार्य शुभचन्द्र ने उन्हें 'भारतभूषण' विशेषण से सम्बोधित किया है। आराधना कथाकोश' में उन्हें भावी तीर्थंकर कहा गया है। उनके अमित उपकारों से जैन जगत् कभी उऋण नहीं हो सकता। समस्त भारतीय वाङ्मय की श्रीवृद्धि करने वाले आचार्य समन्तभद्र को अनन्त प्रणाम।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य समन्तभद्र और उनका काल–निर्णय

–डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'
नागपुर

आचार्य समन्तभद्र एक ऐसे सारस्वत आचार-व्यवस्थापक थे जिन्होंने जैन धर्म और संस्कृति को सुव्यवस्थित ही नहीं किया बल्कि अपनी आस्था और प्रतिभा के बल पर उसकी उत्तुंग ध्वजा-पताका को ऐसा फहराया कि जैनेतर आचार्य हतप्रभ हो गये। वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, देवागमस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, रत्नकरण्डश्रावकाचार, स्तुतिविद्या (जिनशतक) आदि ग्रन्थों के अन्तर्विषयों की समीक्षा करने पर तात्कालिक जिन परिस्थितियों का आभास होता है उससे इतना तो निश्चित है कि एक ओर संस्कृत वाङ्मय में खण्डन-मण्डन परम्परा प्रारंभ हो गई थी दूसरी ओर समाज में चारित्रिक शिथिलता ने प्रवेश कर लिया था। आचार्य समन्तभद्र ने इस तथ्य को भलीभाँति समझा और अपने वैदुष्य से दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयनकर, वादी बनकर अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की। साथ ही श्रावकाचार को समयानुसार परिष्कृत किया।

पारिवारिक परिवेश–समन्तभद्र दक्षिण भारत के क्षत्रिय राजकुमार थे। उनके पिता फणिमण्डल (तमिलनाडु) के अन्तर्गत उरगपुर (उरयिपुर) के चोलवंशी नरेश थे–"इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्री स्वामिसमन्तमद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्।" यह उनगपुर कान्यकुब्ज नदी के तट पर बसा हुआ था। कालिदास ने रघुवंश के ६.५९ में उरगपुर का उल्लेख किया है। मल्लिनाथ ने उसकी टीका करते हुए उसे पाण्ड्यदेश में अवस्थित बताया। पर एपिगुफिका इण्डिका ९०.१०३ में उसे अशोककालीन चोलदेश की राजधानी कहा है। यह त्रिचिनापल्ली का ही प्राचीन नाम है।

श्री फडकुले सोलापुर के अनुसार समन्तभद्र का गृहस्थावस्था का नाम शान्तिवर्मा था–शान्तिवर्मनामा श्री समन्तभद्रेण। यह तथ्य उन्हें अष्टसहस्त्री की किसी पाण्डुलिपि में मिला। यह बात स्तुतिविद्या (जिनशब्द) के चित्रवद्ध ११६वें पद्य से भी प्रमाणित होती है। षडरं नववलयं चक्रमालिख्य सप्तमवलये शान्तिवर्मकृतं भवति। चतुर्थवलये जिनस्तुतिशतं इति च भवति अतः कवि नामगर्भ चक्रवृत्तं भवति। दक्षिणापथ के प्राचीन इतिहास से यह भलीभाँति जानते हैं कि शान्तिवर्मन् (४५०-७५ ई०) कदम्बवंशीय ककुत्स्थवर्मन् का पुत्र था जिसका राज्य काञ्ची में था और जिसने वहाँ पल्लवों और गंगों से युद्ध किया। शान्तिवर्मन के पुत्र मृगेश्वरवर्मन ने अपने पिता की स्मृति में पलाशिका (हल्सी) में एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन मन्दिर का भी निर्माण किया। इससे यह संभव है कि गृहस्थावस्था का शान्तिवर्मन् ही मुनि अवस्था में समन्तभद्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ हो। उरगपुर के काञ्ची तक कदम्बवंश का राज्य रहा भी है। समन्तभद्र ने भी स्वयं को 'काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं' कहा है।

श्रमणदीक्षा—शान्तिवर्मन प्रारम्भिक चोल सम्राट था जिसे पल्लवों के अनेक आक्रमणों को सहना पड़ा। उसने अपने पुत्र मृगेश्वरवर्मन को राज्य सौंपकर जैन श्रमणदीक्षा अंगीकार की। श्रमणवेलगोला के अभिलेखों (संख्या ४०) से पता चलता है कि वे भद्रबाहु कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में बलाकपिच्छाचार्य के शिष्य थे जो समन्तभद्र के नाम से प्रख्यात हुए—

श्री भद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः।
श्रुतकेवलिनाथेषु परमः परमो मुनिः।।
चन्द्रप्रकाशोज्ज्वलसान्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः।
यस्य प्रभावाद्वनदेवताभिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनाम्।।
तस्यान्वये भूविदिते वभूव यः पद्मनन्दि प्रथमाभिधानः।
श्री कोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः।।
अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृध्रपिच्छः
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी।।
श्री गृद्धपिच्छमुनिपस्य बनाकपिच्छः
शिष्योऽजनिष्ट भुवनत्रयवर्तिकीर्तिः।
चारित्रचञ्चुरखिलानिपालमौलि-
मालाशिलीमुखविराजितपादपद्मः।
एवं महाचार्यपरम्परायां स्यात्कारमुद्रांकिततत्त्वदीपः।
भद्रस्समन्ताद्गुणतो गणीशस्ससमन्तभद्राजनिवादिसिंहः।।

जैनशिलालेख संग्रह भाग ९, अभि० संख्या ४० पृष्ठ

इस शिलालेख में यद्यपि यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया कि समन्तभद्र बलाकपिच्छाचार्य के शिष्य थे। पर इतना तो स्वीकारा ही जा सकता है कि वे कुन्दकुन्द परम्परा के एक सर्वमान्य प्रतिष्ठित आचार्य थे। सेनगण की पट्टावली में उन्हें द्रविड़ संघ की शाखा का आचार्य तिरूमकूडनू नरसिपुर शिलालेख नं० १०५ में उन्हें द्रविड़ संघ का आचार्य बताया है। ऐसी स्थिति में उन्हें किस संघ का आचार्य माना जाए, यह निश्चित करना सरल नहीं है।

आचार्य समन्तभद्र एक कठोर तपस्वी और साधक थे। उपसर्गों और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विघ्नबाधाओं को भी वे बड़े धैर्य के साथ सहन कर लिया करते थे। राजाबलिकथे के अनुसार मणुवकहल्ली गांव में उन्हें भस्मक नाम व्याधि ने आ घेरा। उन्होंने पूरी शक्ति के साथ उसका सामना किया। जब असंभव हो गया तो उन्होंने अपने गुरु से सल्लेखना देने के लिए निवेदन किया पर गुरु ने "समन्तभद्र से शासनोद्धार होगा" यह समझकर उन्हें मुनिवेष छोड़कर रोगनिवारण करने की आज्ञा दे दी। समन्तभद्र मणुवक से कांची पहुँचे और वहाँ के राजा शिवकोटि के भीमलिंग नामक शिवालय में जाकर तण्डुलान्न शिव को समर्पित करने का आश्वासन दिया। प्रथम चार दिन किसी तरह से निकल गये, व्याधि भी शान्त हो गई। पर जब तण्डुल बचने लगा तो सन्देह भी बढ़ने लगा और अन्ततः रहस्य खुल गया। इधर समन्तभद्र ने तीर्थंकर की स्तुतियां पढ़ना शुरू कर दिया। श्री चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रगट की गई। शिवकोटि यह देखकर समन्तभद्र का भक्त हो गया और उसने जैनधर्म स्वीकार कर लिया।

इस घटना का उल्लेख श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं० ५४ के पद्य क्र० ६-७, पृ० १०२ (भाग१) में इस प्रकार हुआ है–

काञ्च्या नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बिशे पाण्डुपिण्डः।
पुण्ड्रण्डे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।।
वाराणस्यामभूवं शशकरधवलः पाण्डुरङ्गस्तपस्वी।
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी।।६।।
पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालव-सिन्धु-ढक्क-विषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सङ्कटं।
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्।।७।।

इन पद्यों में उल्लिखित महत्वपूर्ण संकेत ये हैं–भस्मक रोग की शान्ति काशी में हुई और समन्तभद्र उद्भटवादी थे। आगे के एक अन्य श्लोक में यह भी संकेत हुआ है कि पद्मावतीदेवता के प्रसाद से अन्य मन्त्र वचनों के प्रभाव से यह चमत्कार हुआ–

वंद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता
दत्तोदात्तपदस्वमंत्रवचनव्याहूतचन्द्रप्रभः ।
आचार्यस्य समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः।।

ब्रह्मनेमिदत्त के आराधनाकोश में भी यह घटना उल्लिखित हुई है पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वहाँ घटनाक्रम काशी में घटित हुआ तथा वहाँ का राजा शिवकोटि था जो शिवायन के साथ जैनदीक्षा धारण कर लेता है। यहाँ प्रश्न यह है कि यह शिवकोटि कौन था? हम जानते हैं नागवंशीय राजा दक्षिण ही नहीं, समूचे भारतवर्ष में फैले हुए थे। उनके नामों से उरगपुर जैसे अनेक नगर भी थे। संभव है शिवकोटि नागवंशी शिवदत्त हो जिसने शिवलिंग की स्थापना की थी। इन नागवंशी राजाओं में कुछ राजा जैनधर्मावलम्बी भी थे।

आचार्य समन्दभद्र का समय अभी भी विवादास्पद बना हुआ है। मुख्तार सा० ने अपने समय तक ज्ञात लगभग सभी प्रमुख मन्तव्यों की समीक्षा की फिर भी किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके। वे मात्र यह कहकर रह गये कि समन्दभद्र का समय प्रथम-द्वितीय शताब्दी से पंचम शताब्दी के बीच कही स्थापित किया जा सकता है। यहाँ हम इन सभी मतों पर पुनर्विचार कर किसी एक निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न करेंगे।

१. श्रवणवेलगोल की मल्लिषेण प्रशस्ति (नं० ५४-६७) में समन्तभद्र का उल्लेख सिंहनन्दि के पहले हुआ है। ये सिंहनन्दि गंगवंशीय कोंगुणीवर्मा के गुरु थे जिनका समय ई० सन् १८८ है। अत: समन्तभद्र का समय इसके पूर्व लगभग सन् १३८ तक होना चाहिए। राइस के मत से यह मत सही नहीं लगता। शिलालेख में जिन आचार्यों का उल्लेख है वह उल्लेख ऐतिहासिक क्रम से नहीं है। यदि हो भी तो कोंगुणिवर्मा का समय १८८ ए० डी० नहीं बल्कि लगभग ४०० ए० डी० है। वह पश्चिमी गंगों के राजकुल का प्रतिष्ठापक था तथा काञ्ची में प्रतिष्ठित था। 'कर्नाटक कविचरिते' के लेखक नरसिंहाचार्य ने भी राइस के मत का समर्थन किया था।

२. रामस्वामी आयंगर ने **Studies in South Indian Jainism** में समन्तभद्र का समय राष्ट्रकूट काल में निर्धारित किया। राष्ट्रकूट का प्रथम सम्राट दन्तिदुर्ग था जिसका समय ७४५-७५६ ए० डी० है।

३. डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने समन्तभद्र का समय सन् ६०० माना है इसलिए कि कुमारिल (७वीं सदी) ने समन्तभद्र का उल्लेख किया है।

४. सिद्धसेन ने रत्नकरण्डश्रावकाचार का एक पद्य "आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य-९" अपने न्यायावतार में सम्मिलित किया है। सिद्धसेन को वराहमिहिर का समकालीन माना जाता है और विक्रमादित्य की सभाके नव रत्नों में सम्मिलित षपणक सिद्धसेन का ही नामान्तरण है। वराहमिहिर का समय छठी शती माना जाता है। अत: समन्तभद्र का समय भी यही होना चाहिए। इसके लिए निम्न-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिखित पद्य 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ से प्रस्तुत किया जाता है–

धन्वंतरिः क्षपणकोऽमरसिंहशंकुर्वेतालभट्टघटकर्पटकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य।।

इस पद्य में उल्लिखित कवियों में कालिदास, वराहमिहिर का समय ५-६वीं सदी माना जाता है। वराहमिहिर की मृत्यु ई० ५८७ में हुई। अतः सतीशचन्द्र विद्यालंकार ने सिद्धसेन को ५३३ ई० का सिद्ध किया है। यहाँ मुख्य प्रश्न है–क्षपणक का अर्थ सिद्धसेन कैसे लिया जाये ? वह दिगम्बर अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अवश्य पर उसे सिद्धसेन का पर्यायार्थक कैसे कहा जाये ?

५. पं० नाथूराम प्रेमी, डॉ० हीरालाल जी, पं० सुखलाल जी संघवी, डॉ० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य आदि महानुभावों ने भी समन्तभद्र को ५वीं/छठी शताब्दी का आचार्य माना है। डॉ० हीरालाल जी ने तो रत्नकरण्ड श्रावकाचार को समन्तभद्र की कृति ही स्वीकार नहीं किया। सुखलाल जी ने उन्हें धर्मकीर्ति के बाद का आचार्य माना।

६. आचार्यश्री हस्तीमल जी जैनधर्म का मौलिक इतिहास भाग ३, पृ० ४३३ पर श्वेताम्बर आचार्य समन्तभद्र तथा दिगम्बराचार्य समन्तभद्र को एक ही व्यक्ति मानकर आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार जी के मत का समर्थन करते दिखते हैं कि समन्तभद्र को ईसा की द्वितीय शताब्दी के प्रथम चरण का आचार्य होना चाहिए।

७. डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया ने सारे प्रमाणों की मीमांसकर मुख्तार के मत का समर्थन किया है। उन्होंने नागार्जुन (सन् १८१) का लगभग समकालीन माना है समन्तभद्र को। साथ ही 'मोक्षमार्गस्य नेत्तारम्' मंगलाचरण को तत्त्वार्थसूत्रकार गद्धपिच्छाचार्य का सिद्ध किया तथा रत्नकरण्डश्रावकाचार को समन्तभद्र की कृति के रूप में प्रस्थापित किया। इस तथ्य को बाद में महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य ने भी स्वीकार किया।

आचार्य समन्तभद्र का उल्लेख आचार्य पूज्यपाद विद्यानन्द, जिनसेन, वीर-नन्दि, वादिराजसूरि आदि अनेक आचार्यों ने बड़े आदर के साथ किया है और उनकी वादशक्ति तथा विद्वत्ता की प्रशंसा की है। ये सब उल्लेख लगभग पांचवीं शताब्दी के पूर्व सिद्ध करने में संकोच हो रहा है। यह विषय अभी भी निःसन्देह ठोस प्रमाणें की मांग कर रहा है ताकि समन्तभद्र के समय का निर्धारण ठीक तरह से किया जा सके। इसके बावजूद इतना तो निश्चित है कि जैन चिन्तन के विकास में और आचार की प्रतिष्ठा में समन्तभद्राचार्य का जो योगदान रहा है वह अविस्मरणीय है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आद्य श्रावकाचार

–डॉ. रमेश चन्द जैन
बिजनौर

आचार्य समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार उपलब्ध श्रावकाचारों संज्ञक कृतियों में आद्य श्रावकाचार है। इससे पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्रपाहुड के भीतर चारित्र के सकल और विकल भेद करके मात्र छह गाथाओं में विकल चारित्र का वर्णन किया है, जो इस प्रकार है–संयम चरण दो प्रकार का है–सागार संयम चरण और अनगार संयम चरण। सागार संयम चरण परिग्रहधारी गृहस्थों के होता है और अनगार संयम चरण परिग्रहरहित अनगार मुनियों के होता है। सागार संयमचरण के ग्यारह भेद हैं- १. दर्शन प्रतिमा २. व्रत प्रतिमा ३. सामायिक प्रतिमा ४. प्रोषध प्रतिमा ५. सचित्त त्याग प्रतिमा ६. रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा ७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा ८. आरम्भ त्याग प्रतिमा ९. परिग्रह त्याग प्रतिमा १०. अनुमति त्याग प्रतिमा और ११. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा।

सागार संयम चरण के धारक श्रावक के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार बारह व्रत होते हैं। स्थूल त्रसकायिक जीवों की हिंसा का त्याग करना प्रथम अणुव्रत है। स्थूल झूठ बोलने का त्याग करना दूसरा अणुव्रत है। स्थूल चोरी का त्याग करना तीसरा अणुव्रत है। परस्त्री का त्याग करना चौथा अणुव्रत है और परिग्रह आरम्भ का परिमाण करना पाँचवाँ अणुव्रत है।

दिशा-विदिशा में जीवन भर के लिए प्रमाण करना प्रथम गुणव्रत है। अनर्थक पापों का त्याग करना दूसरा गुणव्रत है और भोग-उपभोग की वस्तुओं का परिमाण करना तीसरा गुणव्रत है। प्रतिदिन सामायिक करना प्रथम शिक्षाव्रत है। पर्व के दिन उपवास करना दूसरा शिक्षाव्रत है। अतिथि जनों की आहारादि के द्वारा पूजा, सेवा वैयावृत्य आदि करना तीसरा शिक्षाव्रत है और जीवन के अन्त में सल्लेखना करना चौथा शिक्षाव्रत कहा गया है[१]।

आचार्य उमास्वामि ने तत्त्वार्थ सूत्र में संस्कृत भाषा में सर्वप्रथम श्रावक धर्म का वर्णन किया है। इन्होंने तत्त्वार्थ सूत्र में व्रती को निःशल्य कहा है[२]। व्रती के दो भेद होते हैं-अगारी और अनगार[३]। अणुव्रती अगारी है[४]। अहिंसादि व्रतों की पाँच-पाँच भावनायें हैं[५]। प्रत्येक व्रत के पाँच पाँच अतीचार हैं। उमास्वामि से पूर्व किसी ने भी अतीचारों का उल्लेख नहीं किया है। तत्त्वार्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्र में ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख नहीं है। आचार्य उमास्वामि ने आचार्य कुन्दकुन्द और कार्त्तिकेय प्रतिपादित गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के नामों में भी परिवर्तन किया है। इनके अनुसार दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डविरति में तीन गुणव्रत और सामायिक, प्रोषधोपावास, उपभोग परिमाण और अतिथि संविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं। स्वामि कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में प्रतिपादित देशावकाशिक को इन्होंने गुणव्रत में और भोगोपभोगपरिमाण को शिक्षाव्रत में परिगणित किया है। तत्त्वार्थसूत्र में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं का वर्णन है तथा अष्टमूल गुणों का वर्णन नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र के पश्चात् आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में श्रावक धर्म का वर्णन कर रत्नों का पिटारा ही उपस्थित कर दिया। इसमें धर्म का स्वरूप, सच्चे देव, शास्त्र और गुरु का स्वरूप, सम्यक्त्व के आठ अङ्ग, तीन मूढ़तायें, आठमद, रत्नत्रय, अनुयोगों का स्वरूप, श्रावक के बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाओं तथा सल्लेखना का सुन्दर वर्णन किया है। इसके प्रारम्भ के चालीस पद्यों में सम्यक्त्व के माहात्म्य का जैसा वर्णन है, वैसा अन्य किसी श्रावकाचार में नहीं है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार के प्रारम्भ में तीर्थङ्कर वर्द्धमान को नमस्कार करते हुए कहा गया है कि उनका केवल ज्ञान अलोकाकाश सहित तीनों लोकों का दर्पण के समान अनुभव करता है। इससे तीर्थङ्कर के सर्वज्ञता रूप गुण पर प्रकाश डाला गया है। समस्त धर्मों में जैन धर्म ही ऐसा धर्म है, जो मनुष्य की सर्वज्ञता पर विश्वास करता है। चूँकि यह धर्म सर्वज्ञता की भित्ति पर टिका हुआ है, अत: ग्रंथकार की ग्रन्थरचना की प्रामाणिकता स्वत: सिद्ध है। सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिए घातिकर्म का विनाश आवश्यक है अत: वे ऐसे समीचीन धर्म का उपदेश दे रहे हैं, जो कर्मों का नाशक है और संसार के दु:खों से प्राणियों को उत्तम सुख में धारण करता है[६]। यहाँ धर्म को प्राणिमात्र का उद्धारक कहा है! यह सम्प्रदायातीत दृष्टि है। ऐसा धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप ही हो सकता है। इस सम्यक्त्व रूप धर्म की महिमा के विषय में आचार्य कहते हैं–

न हि सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार-३४)

तीनों कालों में और तीनों लोकों में जीवों के सम्यक्त्व के समान कोई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरा कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान कोई दूसरा अनुपकारक नहीं है। सम्यग्दर्शन की अनेक परिभाषायें प्राप्त होती हैं। जैसे–

१. आप्त आगम और तपस्वियों अर्थात् देव, शास्त्र और गुरु का तीन मूढ़ता रहित, आठ मद रहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है[७]।

२. तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है[८]।

३. आपा पर का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

४. आत्मविनिश्चिति सम्यग्दर्शन है[९]।

इन चारों में से किसी एक परिभाषा का ग्रहण करने पर उसमें अन्य परिभाषाओं का समावेश स्वत: हो जाता है। आचार्य समन्तभद्र ने प्रथम परिभाषा ग्रहण की है। तत्त्वार्थसूत्र के समान उन्होंने देशावकाशिक को गुणव्रत न मानकर शिक्षाव्रत माना और भोगोपभोग परिमाण को चारित्रपाहुड के समान गुणव्रत ही माना। गुणव्रत और शिक्षाव्रत के निरुपण की समन्तभद्रीय विशेषता की ओर पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री ने प्रकाश डाला है, तदनुसार आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि इस ओर गयी कि शिक्षाव्रत तो अल्पकालिक साधना रूप होते हैं, पर भोगोपभोग का परिमाण तो यम रूप से यावज्जीवन के लिए भी होता है, अत: उसे शिक्षाव्रतों में कैसे गिना जाय। इसके साथ ही दूसरा संशोधन देशावकाशिक को प्रथम शिक्षाव्रत मानकर किया। उनकी तार्किक दृष्टि ने उन्हें बताया कि सामायिक और प्रोषधोपवास के पूर्व ही देशावकाशिक का स्थान होना चाहिए; क्योंकि उन दोनों की अपेक्षा इसके काल की मर्यादा अधिक है। इसके सिवाय उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित सल्लेखना को शिक्षाव्रत रूप से नहीं माना। उनकी तार्किक दृष्टि को यह जँचा नहीं कि मरण के समय की जाने वाली सल्लेखना जीवन भर अभ्यास किए जाने वाले शिक्षाव्रतों में कैसे स्थान पा सकती है? अत: उन्होंने उसके स्थान पर वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत को कहा। तत्त्वार्थसूत्रगतपरिग्रह परिमाण व्रत के पाँचों अतीचार तो एक अतिक्रमण नाम में ही आ जाते हैं, फिर उनकी पञ्चरूपता की क्या सार्थकता रह जाती है, अत: उन्होंने उसके स्वतन्त्र ही पाँच अतीचारों का प्रतिपादन किया। तत्त्वार्थसूत्रगत भोगोपभोग परिमाण के अतीचार भी उन्हें अव्यापक प्रतीत हुए; क्योंकि वे केवल भोग पर ही घटित होते हैं। अत: इस व्रत के स्वतन्त्र अतीचारों का निर्माण किया और यह दिखा दिया कि वे गतानु-गतिक या आज्ञा प्रधान न होकर परीक्षाप्रधानी हैं। उन्हें इत्वरिका परिगृहीता-गमन और इत्वरिका-अपरिगृहीतागमन में कोई खास भेद दृष्टिगोचर नहीं हुआ; क्योंकि स्वदार सन्तोषी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के लिए तो दोनों ही परस्त्रियाँ हैं। अतः उन्होंने उन दोनों के स्थान पर एक इत्वरिकागमन को रखकर विटत्व नामक एक और अतीचार की स्वतन्त्र कल्पना की।

अर्हत्पूजन को वैयावृत्य के अन्दर वर्णन करना रत्नकरण्ड की सबसे बड़ी विशेषता है। इसके पूर्व पूजन को श्रावक-व्रतों में किसी ने नहीं कहा है। सम्यक्त्व के आठ अंगों में, पाँच अणुव्रतों में, पाँच पापों में और चारों दानों के देने वालों में प्रसिद्धि को प्राप्त करने वालों के नामों का उल्लेख भी रत्नकरण्ड की एक खास विशेषता है[१०]।

स्वामी समन्तभद्र ने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आठ मूल गुणों का पहिली बार उल्लेख किया। मूलगुणों के विषय में जैनग्रन्थों में अनेक मत मिलते हैं–

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार

मद्य मांस मधु त्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः।।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार-६६

श्रमणोत्तमों ने पाँच अणुव्रत के साथ मद्य, मांस का त्याग गृहस्थों के आठ मूल गुण कहे हैं।

आचार्य जिनसेन ने स्थूल हिंसादि पाँच पापों तथा द्यूत, मांस और मद्य के त्याग को अष्ट मूलगुण माना है[११]।

आचार्य, सोमदेव[१२], अमृतचन्द्र, पद्मनन्दि, पं० आशाधर, मेघावी, भट्टारक सकलकीर्ति, ब्रह्मनेमिदत्त राजमल आदि ने पाँच उदम्बर फलों के साथ मद्य, माँस, मधु के त्याग को अष्टमूलगुण कहा है।

पण्डित आशाधर जी ने एक अन्य मत का उल्लेख किया है–

मद्यपलमधु निशासनपंचफली विरतिपञ्चकाप्तनुती।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः।।

सागार धर्मामृत अध्याय २

अर्थात् मद्य, मांस, मधु, रात्रि भोजन तथा पंच उदम्बर फलों का त्याग, पञ्च परमेष्ठी की स्तुति, जीवदया और जल छानना ये कहीं आठ मूलगुण कहे गए हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी कार्तिकेय और समन्तभद्र आदि ने छठी प्रतिमा का नाम रात्रिभुक्ति त्याग रखा है। इसमें उन्होंने रात्रिभोजन त्याग आवश्यक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बताया। आचार्य वसुनन्दि ने इस प्रतिमा का नाम तो वही रखा, किन्तु इसका स्वरुप दिवा मैथुनत्याग रूप से किया है।

आचार्य समन्तभद्र ने सामायिक शिक्षाव्रती को 'चेलोपसृष्टमुनिरिव'-वस्त्र से लिपटे मुनि के तुल्य कहा है, वहाँ सामायिक प्रतिमाधारी को यथाजात (नग्न) होकर सामायिक करने का विधान किया है।

आचार्य समन्तभद्र ने प्रोषध शब्द का अर्थ एक बार भोजन किया है[१३]। एकाशन के साथ जो उपवास किया जाता है उसे प्रोषधोपवास कहा है, किन्तु अकलंक देव ने प्रोषध शब्द को पूर्व का पर्यायवाची माना है। तदनुसार अष्टमी आदि पर्व के दिन जो उपवास किया जाता है, उसे प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत कहा है। इस अर्थ भेद के साथ जब प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत और प्रोषध प्रतिमा के स्वरूप पर विचार करते हैं तो दोनों में महान् अन्तर पाते हैं और उसका संकेत मिलता है स्वामी समन्तभद्र के ही द्वारा प्रतिपादित प्रोषधप्रतिमा के स्वरूप से। जहाँ कहा गया है–

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः।।

रत्नकरण्ड श्रा० पद्य-१४०

प्रत्येक मास चारों ही पर्वों में अर्थात् दोनों अष्टमियों और दोनों चतुर्दशियों में अपनी शक्ति को न छिपाकर धर्मध्यान में तत्पर होता हुआ प्रोषधप्रतिमा-धारी कहलाता है।

उपर्युक्त पद्य में प्रथम चरण में पठित 'अपि' शब्द एवकार का वाचक है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि दोनों पक्ष की दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इन चारों ही पर्वों में प्रोषधोपवास करना चौथी प्रतिमाधारी के लिए आवश्यक है। शिक्षाव्रत के भीतर यह प्रोषधोपवास अभ्यास रूप था, अतः कभी उपवास न करके एक बार नीरस भोजन, जलपान आदि भी कर लेता था, जिसकी सूचना कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि में वर्णित इसके स्वरूप से मिलती है। उत्तरार्द्ध के 'मासे मासे' और स्वशक्तिमनिगुह्य पद यह प्रकट करते हैं कि प्रत्येक मास में पर्व के दिन उपवास करना आवश्यक है। चाहे ग्रीष्म ऋतु के मासों में कितनी ही भयंकर गर्मी क्यों न पड़ रही हो, पर उसे चारों प्रकार के आहार का त्याग करके उपवास करना ही पड़ेगा। इस प्रतिमा में अपनी शक्ति को छिपाने रूप बहाने का कोई स्थान नहीं है। चौथे चरण में पठित प्रणधिपरः पद तो स्पष्ट कह रहा है कि अत्यन्त सावधानी पूर्वक इस प्रतिमा का पालन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना चाहिए[४]।

आचार्य समन्तभद्र ने श्रावकाचार विषयक ग्रन्थ रत्नकरण्ड लिखकर श्रावकाचार के स्वरूप को सर्वप्रथम विशद रूप से प्रस्तुत किया है। परवर्ती श्रावकाचार रत्नकरण्ड से किसी न किसी रूप में प्रभावित हैं। विक्रमी सं० १०१६ में रचे गए सोमदेव ने अष्टमूल गुणों में मद्य, मांस, मधु को सम्मिलित कर पंच अणुव्रतों के स्थान पर पञ्च उदुम्बरों की गणनो की है। देवसेन ने भावसंग्रह तथा पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका में ये ही मूलगुण बतलाए हैं। रत्नमाला में लिखा है–

मद्यमांसमधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नु।
अष्टौ मूलगुणाः पञ्चोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि।।१९।।

मद्य, मांस और मधु का त्याग और पाँच अणुव्रत ये आठ मूलगुण पुरुष के हैं और पाँच उदुम्बर और तीन प्रकार का त्याग ये आठ मूलगुण बच्चों के हैं।

सावयधम्म दोहा में कहा है–

मज्जु मंसु महु परिहरइ संपइ सावउ सोइ।
नीरूक्खडू एरंड वणि किं ण भवाई होइ।।७७

अर्थात् जो मद्य, मांस और मधु का त्याग करे, वही आजकल श्रावक है। क्या बड़े वृक्षों से रहित एरण्ड के वन में छाँह नहीं होती है।

आचार्य समन्तभद्र ने चतुर्थ अणुव्रत का नाम परदार निवृत्ति और स्वदार सन्तोष रखा है[५] तथा पाँचवें अणुव्रत का नाम परिग्रह परिमाण के साथ साथ इच्छा परिमाण भी रखा है[६]।

आदि पुराण में पाँचवें व्रत का नाम तृष्णा प्रकर्षनिवृत्ति और चौथे का परस्त्रीसेवन निवृत्ति रखा है[७]।

पं० आशाधर जी ने चतुर्थ व्रत का नाम स्वदार सन्तोषव्रत रखा।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में अहिंसाणुव्रत के विषय में कहा है–

संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः।।५३।।

अर्थात् जो मन, वचन और काय के कृत, कारित और अनुमोदना रूप संकल्प के द्वारा त्रस जीवों का घात नहीं करता है, उसे स्थूलवध का त्यागी अर्थात् अहिंसाणुव्रती कहते हैं।

आगे के श्रावकाचारों ने प्रायः इसी लक्षण को अपनाया है अथवा इसका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पल्लवन कर वर्णन किया है।

आचार्य सोमदेव के उपासकाध्ययन पर सबसे अधिक प्रभाव आचार्य समन्तभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार का है। उसी के अनुसार उसमें आप्त, आगम आदि के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाकर क्रम से आप्त, आगम आदि का विस्तार से कथन किया है। साधारणतया सम्यग्दर्शन, अष्टमूलगुण, बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमायें और समाधिमरण ये श्रावक धर्म हैं। रत्नकरण्ड के १५० पद्यों में इन्हीं सबका कथन है। उपासकाध्ययन में भी इन्हीं का कथन विस्तार से किया गया है। किन्तु ग्यारह प्रतिमाओं के नाम मात्र गिनाकर उनमें से आदि की छह प्रतिमाओं के धारकों को गृहस्थ, तीन के धारकों को ब्रह्मचारी और अन्त की दो प्रतिमाओं के धारकों को भिक्षुक कहा है। रत्नकरण्ड में ग्यारह प्रतिभाओं का स्वरूप अलग अलग बतलाया है तथा उसमें सम्यग्दर्शन में प्रसिद्ध आठ व्यक्तियों के नाममात्र गिनाए हैं, किन्तु उपासकाध्ययन में उन आठों की कथायें सुन्दर संस्कृत गद्य में रोचक शैली में कही है[१८]।

आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तभद्र, स्वामी कार्त्तिकेय, सोमदेव, चामुण्डराय, अमितगति आदि अनेक आचार्यों ने ग्यारहवीं प्रतिभा के दो भेद नहीं कहे हैं, जब कि वसुनन्दी, आशाधर, मेधावी, गुणभूषण आदि अनेक श्रावकाचारकारों ने दो भेद किए हैं[१९]। आचार्य उमास्वामि, पूज्यपाद, अकलङ्क, विद्यानन्दि, शिवकोटि, रविषेण, जटासिंहनन्दि, हरिवंशपुराण के कर्त्ता जिनसेन, पद्मनन्दि (पंचविंशतिकाकार), देवसेन तथा अमृतचन्द्रसूरि ने ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन नहीं किया है। इसके विपरीत आचार्य समन्तभद्र, सोमदेव, अमितगति, वसुनन्दि, पं० आशाधर, मेधावी तथा भट्टारक सकलकीर्ति आदि श्रावकाचार कत्ताओं ने ग्यारह प्रतिमाओं का नाम निर्देश ही नहीं प्रत्युत विस्तार के साथ उनके स्वरूप का निरूपण किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने ग्यारह प्रतिमाओं के नाम वाली जिस गाथा को कहा है, वह षट्खण्डागम की धवला और कषायपाहुड की जयधवला टीका में भी पायी जाती है[४]।

संदर्भ

१. आचार्य कुन्दकुन्द : चरित्त पाहुड २१/२६

२. 'नि:शल्यो व्रती' -तत्त्वार्थ सूत्र-७/१८

३. 'अगार्यनगारश्च' -वही ७/१९

४. 'अणुव्रतोऽगारी'-वही ७/२०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. 'तत्स्थैर्यार्थं भावना पञ्चपञ्च'-वही ७/३

६. देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदु:खत: सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।। रत्नकरण्ड श्रावकाचार-२

७. वही-४

८. तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।। तत्त्वार्थ सूत्र१/२

९. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-२१६

१०. श्रावकाचार संग्रह चतुर्थ भाग, प्रस्तावना पृ० १६

११. हिंसासत्यास्तेयादब्रह्म परिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मासान्मद्याद्विरतिगृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणा:।।
महापुराण (चारित्रसारे उक्तम्)

१२. मद्यमांसमधुत्यागै: सहोदुम्बरपञ्चकै:। अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणा: श्रुते।।
यशस्तिलक चम्पू

१३. चतुराहारविसर्जनमुपवास: प्रोषध: सकृद्भुक्ति:।
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति।। रत्नकरण्ड श्रावचाचार-१०९

१४. श्रावकाचार संग्रह-भाग-४ प्रस्तावना पृ० १०३

१५. न तु परादारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
स परदारनिवृत्ति: स्वदारसन्तोषनामापि।
रत्नकरण्डश्रावकाचार-५९

१६. धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता।
परिमितपरिग्रह: स्यादिच्छापरिमाणनामाऽपि।। वही-६१

१७. आदि पुराण १२/६३

१८. उपासकाध्ययन (प्रस्तावना) पृ० २४

१९. श्रावकाचार संग्रह-भाग ४ पं० हीरा लाल शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ० ९४

२०. वही, पृ० ९५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रत्नकरण्ड तथा अन्यान्य श्रावकाचार : एक तुलनात्मक विवेचन

–प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन
आरा

आचार्य समन्तभद्र और उनका रत्नकरण्ड श्रावकाचार :

जन्मजात प्रतिभा के धनी आचार्य समन्तभद्र महावादी-विजेता[१] स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद के प्रतिष्ठाता[२], वाग्मी[३], गमक[४], कविकुंजर[५], वज्रांकुश[६], एवं कविवेधा[७] के रूप में प्रख्यात हैं। एक ओर वे जैन दर्शन के गम्भीर चिन्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं, तो दूसरी ओर आचारशास्त्रवेत्ता के रूप में। उनका एक तीसरा रूप भी था, जो शास्त्रार्थी विद्वान् के रूप में भी सर्वत्र चर्चित था। प्राचीन मगध की राजधानी पाटलिपुत्र, शास्त्रकार-परीक्षा के लिए प्रसिद्ध था। उस परीक्षा की कसौटी पर खरे उतरने के बाद ही चिन्तक व्यक्ति पारंगत लेखक-विद्वानों की कोटि में बैठ सकता था। समन्तभद्र वहाँ की परीक्षा में भी खरे उतरे थे,[८] इसीलिए गद्यचिन्तामणिकार ने उन्हें "सरस्वतीस्वैरविहारभूमय:"[९] तथा "वाग्वज्रनिपातपाटित- प्रतीपपरादान्तमहीध्रकोटय:"[१०] कहा है। काशीनरेश के लिए स्वयं उनके द्वारा प्रदत्त परिचय तथा करहाटक में प्रदत्त आत्मपरिचय के आधार पर लिखित श्रवणवेलगोल के शिलालेख[११] सं० ५४ तथा आचार्य जिनसेन कृत आदिपुराण-प्रशस्ति[१२] में उनके व्यक्तित्व की सुन्दर झांकी मिलती है। उनकी गहन मौलिक चिन्तन शक्ति तथा कठोर साधना से प्रभावित होकर अनेक आचार्य-लेखकों ने उन्हें भावी तीर्थंकर के रूप में भी स्मरण किया है।[१३]

कृतित्व–

आचार्य समन्तभद्र द्वारा लिखित ग्यारह कृतियों के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें से–(१) वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र (अपरनाम स्वयम्भूस्तोत्र अथवा चतुर्विंशति स्तवन) (२) स्तुतिविद्या (अपरनाम जिनशतक) (३) देवागमस्तोत्र (अपरनाम आप्तमीमांसा) (४) परमात्मस्तोत्र (अपरनाम परमेष्ठी स्तोत्र अथवा युक्त्यनुशासन) और (५) रत्नकरण्डश्रावकाचार ये ५ कृतियाँ उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं। अन्य जो ६ कृतियाँ ज्ञात किन्तु अनुपलब्ध हैं उनके नाम निम्नप्रकार हैं–

(१) जीवसिद्धि (२) तत्त्वानुशासन (३) प्राकृतव्याकरण (४) प्रमाणपदार्थ (५) कर्मप्राभृत टीका एवं (६) गन्धहस्तिमहाभाष्य। अन्तिम ग्रन्थ गन्धहस्तिमहाभाष्य के विषय में इधर कुछ सूक्ष्म सांकेतिक चर्चा आई है कि वह सम्भवत: नष्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं हुआ है और इसकी खोज के कुछ अप्रचारित प्रयत्न चल रहे हैं। फिर भी, उसके अस्तित्त्व के विषय में अभी निश्चित रूप से कुछ कह पाना सम्भव नहीं। समय ही इसका उत्तर देगा।[१४]

यद्यपि उनका समय विवादास्पद रहा है। फिर भी विविध अनुसन्धानों के आधार पर अधिकांश विद्वानों ने, जिनमें पं० जुगलकिशोर मुख्तार एवं महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य आदि प्रमुख हैं, समन्तभद्र को द्वितीय सदी ईस्वी के आसपास का सिद्ध किया है।[१५] वे कावेरी नदी के तटवर्ती फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के कदम्बवंशी नरेश के राजकुमार थे।[१६] मुनि दीक्षा धारण करने के बाद उन्हें भस्मक व्याधि हो गई थी, जिसका शमन उन्होंने बड़ी चतुराईपूर्वक किया था।[१७] इसकी मार्मिक कथाव्यथा सर्वविदित है।

श्रावकाचार का आध्यात्मिक और लौकिक महत्त्व

श्रावकाचार : मानवीय आचार का मानक ग्रन्थ–

समन्तभद्र द्वारा लिखित रत्नकरण्डश्रावकाचार मानवीय आचार का एक मानक ग्रन्थ है। वह न केवल श्रावक के आध्यात्मिक विकास तथा उसके आचार का विवेचक, एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, अपितु राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय चरित्र-विकास की दृष्टि से भी प्रामाणिक आचार संहिता (Code of Conduct) माना जा सकता है। इसमें गृहस्थ को उत्तम नागरिक बनने हेतु यह शिक्षा प्रदान की गई है कि आत्मानुशासन में रहते हुए उसे, किस प्रकार, न्यायविधिपूर्वक, परिवार का भरण- पोषण, समाज एवं राष्ट्र-सेवा, किम्वा विश्व-सेवा करनी चाहिए।

चाहे अधिवक्ता हो या शिक्षक, चिकित्सक हो या व्यापारी, गृहस्थ हो या साधु, पुरुष हो या महिला, देशी हो या विदेशी, बालक हो या वृद्ध, समाजनेता हो या राजनेता, सभी के लिए समाज के नव-निर्माण तथा राष्ट्रीय एकता और अखण्डता की भावना के परिस्फुरण के लिए आचार्य समन्तभद्र कृत रत्नकरण्डश्रावकाचार की उपादेयता स्वत: सिद्ध है। विश्व बन्धुत्व सम्बन्धी प्रशिक्षण के लिए यह ग्रन्थ एक प्रारम्भिक बालपोथी के प्रथम पाठ के समान भी मानी जा सकती है।

संसार में व्याप्त अनाचारों का वर्गीकरण

हमारे महान चिन्तक एवं दूरदृष्टा आचार्यों ने विश्व में व्याप्त समस्त समाज- विरोधी दुष्प्रवृत्तियों तथा अनाचारों को पाँच भागों में विभक्त किया है–

(१) हिंसा (Injury) (२) झूठ (Falsehood) (३) चोरी (Theft) (४)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुशील (Unchastity) एवं (५) परिग्रह (Worldly attachment Hoarding)।

जैनाचार में वे पंच पाप[१८] के नाम से प्रसिद्ध है। इनका तथा इनके साथ- साथ मद्यमाँस जैसी हिंसक विधियों से तैयार की जाने वाली वस्तुओं का सेवन, मानवीय गुणों के विकास में सर्वाधिक बाधक माना गया है। इसी कारण आठों का परित्याग करने वाला व्यक्ति, आठ मूलगुणों[१९] का धारक "श्रावक" अथवा "सद्‌गृहस्थ" कहलाता है। हिंसादि पाँच पापों के यथाशक्ति अथवा एकदेश त्याग को पाँच अणुव्रत तथा उनके सर्वदेश त्याग को महाव्रत की संज्ञा प्रदान की गई है। इनके निरतिचार पालन करने वालों को क्रमश: सागार अथवा श्रावक तथा अनागार अथवा मुनि कहा गया है।

अनाचार दु:साध्य बीमारियों के मूल कारण

आज संसार में वर्ग भेद एवं वर्णभेद के साथ-साथ ईर्ष्या एवं विद्वेषजन्य सर्वत्र जो अशान्ति फैल रही है, इसके मूल में उक्त पाँच पाप ही हैं। स्वार्थपूर्ति न होने से व्यक्ति का मन प्रतिक्रियावादी, क्रोधी एवं हिंसक बन जाने के कारण उसका दुष्प्रभाव उसके स्नायुतन्त्र पर पड़ने लगता है, अनेक रक्तनलियाँ जल जाती हैं अथवा जख्मी हो जाती हैं, जिसके कारण वह अनेक रोगों का शिकार बन जाता है और उसका दुष्परिणाम भी अनिवार्य रूप से उसे स्वयं ही भोगना पड़ता है। तात्पर्य यह कि धार्मिक दृष्टि से तो पूर्वोक्त पापों के त्याग का महत्त्व है ही, व्यक्तिगत भौतिक सुख-सन्तोष एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उसका विशेष महत्त्व है। अनुभवी चिकित्सकों का भी यह स्पष्ट कथन है कि मन को उद्वेलित करने वाले हिंसादि पापों से बचकर व्यक्ति अल्सर, कैंसर, शिरोरोग, यक्ष्मा, मूर्च्छा, एड्स एवं हृदयरोग जैसी प्राणलेवा बीमारियों से सहज की मुक्ति पा लेता है।

पंच-पाप : कुटिल विनाशक राजनीति के प्रसारक

वर्तमान युग में हर व्यक्ति मानसिक तनाव से ग्रस्त हैं। चोरी, डकैती, बलात्कार, माया, छल-कपट, रिश्वतखोरी, जमाखोरी, मिलावट आदि तथा राज्य-सीमा-विस्तार जैसे अपराधकर्मों के बढ़ जाने के कारण शान्त एवं सरल प्रकृति वाले लोगों का जीवन कठिन हो गया है। पुलिस एवं सेना की संख्यातीत वृद्धि तथा नरसंहारक विविध आग्नेयास्त्रों के उत्पादन की होड़ में बड़े-बड़े राष्ट्रों ने येन-केन-प्रकारेण शोषण करके राष्ट्र-सम्पदा का बहुभाग व्यय कर, सामान्य जनता को दरिद्रता के कगार पर खड़ा कर दिया है और साधनविहीन बनाकर अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु वे उनका अनुचित लाभ उठा रहे हैं। उन सभी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के मूल में उनकी लोभी-परिग्रही एवं जमाखोरी की ही हिंसक एवं मायाविनी मनोवृत्ति है। संक्षेप में कहा जाए तो इन समस्त सांसारिक समस्याओं का समाधान श्रावकाचार अथवा निरतिचार पंचाणुव्रत के पालन से सहज ही हो सकता है।

श्रावकाचार : सर्वोदय का पर्यायवाची नाम

श्रावकाचार वस्तुत: सर्वोदय का ही पर्यायवाची नाम है। अत: उसका मन, वाणी एवं कर्मपूर्वक यदि निरतिचार पालन होने लगे, तब तो कोर्ट-कचहरियों एवं पुलिस स्टेशनों में ताले ही पड़ जावेंगे। खुफिया-पुलिस एवं सेना की आवश्यकता ही न रह जायगी। तात्पर्य यह है कि सादा जीवन, उच्च विचार, स्वस्थ पारिवारिक जीवन आत्म-विश्वास, स्वाभिमान, सामाजिक गौरव, राष्ट्राभिमान एवं विश्वबन्धुत्व की भावना जागृत करने के लिए श्रावकाचार सर्वश्रेष्ठ कुंजी है।

आचार्य समन्तभद्र ने पूर्वागत परम्परा को ध्यान में रखते हुए आज से लगभग १८०० वर्ष पूर्व समकालीन राजनैतिक-परिवर्तन तथा उससे दुष्प्रभावित परिवर्तित-जन-जीवन में वृद्धिंगत अपराध कर्मों को देखकर तथा भावी भयानक भविष्य की कल्पना कर दूरगामी दुष्परिणामों पर सर्वाधिक गम्भीर विचार किया था और इसीलिए उन्होंने अपने साहित्य में समन्वय, सौहार्द, विश्वबन्धुत्व तथा प्राणीमात्र के प्रति हित-सुख की मंगलकामना के प्रतीक "सर्वोदय" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग कर एक सर्वोदयी उन्नत समाज एवं राष्ट्र के गठन का सन्देश दिया था। परवर्ती कालों में सर्वोदय की इसी भावना वाले देश को (Welfare State) की संज्ञा प्रदान की जाने लगी।

अणुव्रतातिचार एवं इंडियन पैनल कोड

आचार्य समन्तभद्र ने पाँच अणुव्रतों में से प्रत्येक के ५-५ अतिचारदोष बतलाए हैं, इनमें से किसी भी अणुव्रत के सदोष-पालन से जिस उत्तम नागरिक के बनने अथवा जिस स्वस्थ-समाज एवं राष्ट्र-निर्माण की आशा की जाती है, वह सम्भव नहीं। अत: इन अतिचारों के निराकरण के लिए जैनाचार में दण्ड-व्यवस्था भी की गई है। लेकिन वह प्रायश्चितमूलक तथा आत्मसंशोधनपरक ही है, जो हृदय- परिवर्तन तथा आत्मानुशासन से सम्बन्धित है। इस सन्दर्भ में यदि भारतीय आचार (अथवा दण्ड) संहिता (Indian Penal Code) का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाए, तो उससे स्पष्ट विदित हो जायेगा की उसमें जिन अपराधों की चर्चा की गई है, वे प्राय: वही अपराध हैं, जिन्हें रत्नकरण्डश्रावकाचार में पूर्वोक्त हिंसादि पाँच पापों तथा उनके प्रतिरोधी पाँच अणुव्रतों के ५-५ अतिचारों में प्रस्तुत किया गया है। भारतीय आचार (अथवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दण्ड संहिता) की विविध धाराओं में अधिकांशतः उन्हीं के लिए दण्ड व्यवस्था की गई है। श्रावकाचार एवं भारतीय आचार (अथवा दण्ड) संहिता की दण्डविधियों में अन्तर केवल यही है कि श्रावकाचार का दण्ड-प्राणी स्वतः अथवा गुरु के आदेशोपदेशपूर्वक प्रायश्चित्त के साथ-साथ भावनात्मक तथा आत्मशुद्धिकरण से सम्बन्धित है, जबकि इण्डियन पैनल कोड की दण्ड-व्यवस्था आर्थिक अथवा शारीरिक दण्डमात्र हैं, जिसमें पुलिस द्वारा मारपीट एवं कारागार की सजा भी आती है। इसमें भावना संशोधन अथवा आत्मशुद्धि से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

पाँच अणुव्रतों के ५-५ अतिचारों एवं इण्डियन पैनल कोड के २३ अध्यायों में वर्णित ५११ धाराओं में हीनाधिक मात्रा में समानता पाई जाती है। जिज्ञासु शोधार्थियों को दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए। (एतद्विषयक मेरा एक लेख कुछ वर्ष पूर्व तुलनात्मक मानचित्र के साथ इन्दौर से प्रकाशित होने वाले "तीर्थंकर" (मासिक १९८८) में प्रकाशित हुआ था। जिज्ञासु विद्वान् उसे देख सकते हैं)

उपलब्ध श्रावकाचारों की वर्णन शैली--

जैन साहित्य में श्रावकाचार का प्रतिपादन तीन शैलियों में उपलब्ध होता है–

१. एकादश प्रतिमा अथवा रत्नत्रय-धर्म के निरूपण से प्रारम्भ कर–

इस परम्परा के आचार्य कुन्दकुन्द (ई० पू० प्रथम सदी), स्वामी कार्तिकेय (दूसरी सदी) एवं आचार्य वसुनन्दि (११वीं सदी) के मतानुसार श्रावकधर्म का प्रारम्भ ग्यारह प्रतिमाओं से होना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द एवं स्वामी कार्तिकेय ने श्रावकाचार पर पृथक्रूपेण किसी ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया है।

कुन्दकुन्द ने अपने "चारित्रपाहुड"[२०] में छह गाथाओं में तथा स्वामिकार्तिकेय ने अपने कार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ की धर्मानुप्रेक्षा के अन्तर्गत श्रावकाचार का वर्णन किया है। उन्होंने सम्यग्दर्शन एवं ग्यारह प्रतिमाओं को आधार मानकर श्रावकाचार का वर्णन किया है। आचार्य वसुनन्दि ने स्वामिकार्तिकेय का अनुसरण किया है।

उक्त आचार्य कुन्दकुन्द एवं कार्तिकेय की विशेषता है कि उन्होंने न तो अष्टमूलगुणों का उल्लेख किया है और न द्वादशव्रतातिचारों का ही।

स्वामी कार्तिकेय ने सम्यक्त्व की महिमा के वर्णन के बाद ग्यारह प्रतिमाओं के साथ द्वादशव्रतों के लक्षण बतलाए हैं,[२१] जबकि वसुनन्दि ने सर्वप्रथम सप्तव्यसन तथा उनके सेवन के दुष्परिणामों का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए, द्वादशव्रत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्णन तथा ग्यारह प्रतिमाओं के वर्णन के बाद विनय, वैयावृत्य, पूजा, प्रतिष्ठा तथा दान का वर्णित किया है।[२२]

२. दूसरी शैली में, द्वादशव्रतों के निरूपण के साथ श्रावकाचार का वर्णन किया गया है। इनके लेखकों में आचार्य उमास्वाति तथा समन्तभद्र प्रमुख हैं। उमास्वाति ने तत्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय में "अणुव्रतोऽगारी" कहकर आगारी को तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत रूप, सात शीलव्रतों से युक्त बताया। (दि० तत्त्वार्थसूत्र ७/१८-२१) उमास्वाति ने ही सर्वप्रथम बारह व्रतों में से प्रत्येक के ५-५ अतिचारों का वर्णन किया। उन्हें यह परम्परा कहाँ से प्राप्त हुई, यह शोध का विषय है। यह ध्यातव्य है कि उमास्वाति ने ग्यारह प्रतिमाओं एवं अष्टमूलगुणों की चर्चा नहीं की है।

३. तीसरे प्रकार के श्रावकाचार वर्णन में, आचार्य जिनसेन[२३], जिन्होंने श्रावकों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर उनके आचार का वर्णन किया है। वे तीन श्रेणियाँ निम्न प्रकार हैं–

पाक्षिक श्रावक–अर्थात जो अर्हन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु एवं जैन धर्म के अनन्य भक्त हों, इनके प्रति ही समर्पित दृढ़ आस्था रखें। ये निरन्तर ही मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ भावना वाले होते हैं।

नैष्ठिक श्रावक–अर्थात् जो देव, धर्म, मन्त्र, औषधि, आहार आदि के लिए प्राणिवध नहीं करता और जो न्यायोपत्त धन से भरण-पोषण करता हुआ द्वादशविधव्रत एवं ग्यारह प्रतिमाओं का आचरण करता है।

साधक श्रावक–अर्थात् जो जीवन के अन्त में देह, आहार आदि समस्त विषय-कषाय और आरम्भ को छोड़कर परम समाधि का साधन करता है।

आचार्य जिनसेन ने उक्त तीनों को आधार मानकर श्रावकाचार का वर्णन किया है।

कुछ विस्मयकारी वर्णन-प्रसंग

अणुव्रतों की संख्या एवं विषयभेद–

सामान्यतया अणुव्रतों की संख्या पाँच मानी गई है और इस दिशा में आचार्य कुन्दकुन्द (ई० पू० प्रथम सदी) आचार्य समन्तभद्र (दूसरी सदी) आचार्य उमास्वाति (दूसरी सदी) आचार्य सोमदेव (११वीं सदी) वसुनन्दि (ग्यारहवीं सदी) अमितगति (११वीं सदी) और आचार्य हरिभद्र (८वीं सदी) एवं आचार्य हेमचन्द्र (१३वीं सदी) एकमत हैं और उनके अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह-परिमाण ये पाँच अणुव्रत हैं। उनके कथनानुसार वे पाँच ही होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हीनाधिक नहीं। आचार्य हरिभद्र के अनुसार भी न वे चार हो सकते हैं और न छह। उनकी संख्या पाँच सुनिश्चित है। यथा–पंचेति संख्या। एवकारो अवधारणे। पंचैव न चत्वारि षड्वा।

किन्तु कहीं-कहीं पूर्वोक्त अणुव्रतों के साथ "रात्रिभोजनविरति" नामक छठवाँ अणुव्रत भी स्वीकार किया गया है। आचार्य वीरनन्दि (१२वीं सदी) एवं पं० आशाधर (१३वीं सदी) ने इसकी चर्चा की है। आशाधर के अनुसार पंचाणुव्रतों की संख्या आचार्यों के बहुमत के अनुसार है जबकि पूर्वाचार्यों ने उनकी संख्या छह भी मानी है। यथा–

अस्य (अणुव्रतस्य) पंचधात्वं बहुमतादिष्यते।
क्वचित्तु रात्र्यभोजनमपि अणुव्रतमुच्यते।। यथा भवति।

दे० सागार, स्वोपज्ञ टीका

अर्थात् अणुव्रतों की यह पंच संख्या बहुमत की अपेक्षा से ही है। कुछ आचार्यों के मत से तो रात्रिभोजनविरति भी एक अणुव्रत है। सो वह अणुव्रत ठीक ही है।

इसी प्रकार आ० वीरनन्दी का कथन है–

व्रतत्राणाय कर्त्तव्यं रात्रिभोनवर्जनम्।
सर्वथान्नान्निवृतेस्तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम्।। ५/७० आचारसार

अर्थात् अहिंसादि व्रतों की सुरक्षा के लिए रात्रिभोजन का मन, वचन एवं काय से त्याग कर देना चाहिए और अन्न की निवृत्ति से रात्रिभोजन का वह त्याग छठवाँ अणुव्रत कहा गया है।

गोमटेश्वर बाहुबली की मूर्ति के निर्माता वीरवर चामुण्डराय (१०वीं सदी) जो कि सि० च० नेमिचन्द्र के शिष्य थे, उन्होंने अपने "चारित्रसार" में पूर्वोक्त पंचाणुव्रतों के अतिरिक्त रात्रिभोजनत्याग को छठवाँ अणुव्रत घोषित करते हुए उसकी विशेष व्याख्या भी की है और बतलाया है कि रात्रिभोजनत्याग में केवल अन्नत्याग ही नहीं, अपितु उसके साथ पान, खाद्य एवं अवलेह्य का भी मन वचन एवं काय से त्याग करना चाहिए। यथा–रात्रावन्नपानखाद्यलेह्येभ्यश्चतुर्भ्यः सत्वानुकम्पया विरमणं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतम्–

वधादसत्याचौर्याच्चकामाद्ग्रन्थान्निवर्त्तनम्।
पंचधाणुव्रतं रात्र्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम्।। चारित्रसार

मूलगुण : संख्या एवं प्रकार-भेद

आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक के लिए आठ मूलगुणों को अत्यावश्यक बताया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है जो निम्न प्रकार हैं–

अहिंसादि पाँच अणुव्रत एवं मद्य, माँस तथा मधु का त्याग।[२५] ये आठ मूलगुण श्रावक के लिए उसी प्रकार अनिवार्य हैं, जिस प्रकार किसी भवन के लिए नींव तथा वृक्ष के लिए उसकी जड़। किन्तु समकालीन सामाजिक कारणों से मूलगुणों की संख्या आठ मानते हुए भी परवर्ती आचार्यों ने आवश्यकतानुसार उनमें कुछ परिवर्तन किए हैं।

आचार्य जिनसेन (८वीं सदी) ने पूर्वोक्त पाँच अणुव्रतों के साथ मधु के त्याग को माँस-त्याग में मान्य किया तथा मधु के स्थान में द्यूत (जुआ खेलने) के त्याग का निर्देश किया।[२६]

आचार्य शिवकोटि (प्रथम सदी) देवसेन (९वीं सदी) आ० अमृतचन्द्र (१०वीं सदी) सोमदेवसूरि (११वीं सदी) महाकवि रइधू एवं पाण्डे राजमल्ल[२७] (१५-१६वीं सदी) ने पाँच उदुम्बर (बड़, पीपल, गूलर, कठमूर तथा ऊमर) फल त्याग के साथ-साथ मद्य, माँस मधु त्याग को श्रावक के अष्टमूल के रूप में स्वीकार किया है।

इनके विपरीत पं० आशाधर२८ (१३वीं सदी) ने मद्य, माँस एवं मधु त्याग के साथ रात्रिभोजनत्याग, पाँच उदुम्बर फल त्याग (एकीकृत) तथा नियमित रूप से देवदर्शन, जीवदया तथा जलगालन रूप आठ गुण बतलाए हैं।

महाकवि रइधू ने मधु भक्षण के दोषों के निरूपण में पं० आशाधर के समान मधु के एक बिन्दु मात्र के भक्षण को सात नगरों के दग्ध करने के पाप के बराबर कहा है। यथा–

> पुर सत्त डहे जं संपज्जेइ एच्छु लायम्मि।
> तं कय णिच्छय भणियं महुविंदु एक्क लिहणेण।। (सिद्धान्त० ३/२१)

अधिक स्पष्ट रूप समझने के लिए यह मानचित्र पर्याप्त सहायक बन सकेगा–

	आचार्य नाम	समय	अष्टमूलगुणों की विभिन्न परम्पराएँ
१.	आचार्य समन्तभद्र	दूसरी सदी	स्थूल हिंसादि ५ पाप त्याग तथा मद्य, माँस मधु का त्याग
२.	आचार्य जिनसेन	आठवीं सदी	स्थूल हिंसादि ५ पाप तथा मधु के स्थान में द्यूत, माँस, मधु त्याग
३.	आचार्य देवसेन	९वीं सदी	पाँच उदुम्बर फल त्याग तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

			मद्य, मांस मधु त्याग
४.	आचार्य सोमदेवसूरि	१०वीं सदी	पाँच उदुम्बर फल त्याग तथा मद्य, मांस मधु त्याग
५.	महाकवि रइधू	१०वीं सदी	पाँच उदुम्बर फल त्याग तथा मद्य, मांस मधु त्याग
६.	अज्ञातनामा आचार्य (पं० आशाधर जी द्वारा सन्दर्भित)		मद्य, माँस मधु तथा रात्रिभोजन, एवं पाँच उदुम्बर फल त्याग तथा नियमित देवदर्शन, जीवदया और छने जल का पान
७.	अमितगति		मूलगुण ५ अथवा ९, मद्य, माँस एवं क्षीरी वृक्ष फल ५ रात्रिभोजन

कुछ विशेष परिस्थितियों में मूलगुणों की संख्या में भी परिवर्तन हो गया। आचार्य अमितगति ने मूलगुण-शब्द-प्रयोग तथा उसकी संख्या का निर्देश किए बिना ही उसकी चर्चा निम्न प्रकार की है—

मद्यमाँसमधुरात्रिभोजनं क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निसेवते व्रतम्।।

अमितगतिश्रावकाचार ५/१

अर्थात् व्रत गहण करने को इच्छा से बुधजन मन, वचन एवं काय से मद्य, माँस, मधु, रात्रिभोजन और क्षीरी वृक्षों के फलों के सेवन का त्याग करते हैं क्योंकि इससे गृहीत व्रत पुष्ट होता है।

इस सन्दर्भ में क्षीरी वृक्ष फलों के त्याग से तो मूलगुणों की संख्या ५ होती है और यदि ५ गिनते हैं तो मूलगुणों की संख्या ९ हो जाती है।

रात्रिभोजन विरमण सम्बन्धी छठवाँ अणुव्रत—

प्राचीन आचारशास्त्रों में से मूलाचार, भगवती आराधना एवं दशवैकालिक सूत्र में "रात्रिभोजनविरति" तथा "रात्रिभोजनविरमणव्रत" आचार्य पूज्यपाद से लेकर आचार्य श्रुतसागर पर्यन्त (अर्थात् छठी सदी से १५-१६वीं सदी तक) विचारक आचार्यों के सिद्धान्त में अणुव्रत की संज्ञा धारण कर चुका था। इस प्रकार रात्रिभोजन विरमण सम्बन्धी छठवें अणुव्रत की मान्यता के विधि-निषेधात्मक विचारों को देखकर हमारे सम्मुख ये प्रश्न उपस्थित होते हैं कि जैनाचार में उसके विधान की आवश्यकता कब, क्यों और कैसे हुई ? रात्रिभोजनविरमण ने छठवें अणुव्रत की संज्ञा कब और कैसे धारण की ? तथा इस प्रकार का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथन आर्ष-परम्परा का उल्लंघन है ?

उक्त प्रश्नों के उत्तरों के लिए महावीर-निर्वाण के बाद की समसामयिक परिस्थितियों का अध्ययन करना आवश्यक है। प्राचीन इतिहास से यह सिद्ध है कि महावीर-परिनिर्वाण के लगभग १६० वर्ष पश्चात् एक भीषण दुष्काल पड़ा था, जिससे उत्तरभारत का समस्त जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। चतुर्विध संघ बिखर गया, मुनि संयम में शिथिलाचार व्याप्त हो गया था। ऐसी विषम परिस्थितियों में मुनि-आचार को सुरक्षित रखने हेतु मूलाचार एवं भगवती-आराधना में पाँच महाव्रतों की रक्षा के निमित्त रात्रिभोजननिवृत्ति की आवश्यकता का विचार किया गया। यद्यपि उक्त दोनों ग्रन्थों में अहिंसाव्रत के अन्तर्गत आलोयभोयणं (मूलाचार ५/१४० तथा भगवती आराधना ६/१२०६) नामक भावना का भी उल्लेख है, फिर भी मुनियों की वक्रजड़ता (मूलाचार ७/३८ तथा उत्तराध्ययन सूत्र २३/२६) को देखते हुए रात्रिभोजनविरमण का पृथकरूपेण स्पष्टतया उल्लेख आवश्यक हो गया। मूलाचार एवं भगवती आराधना का समय प्रथम सदी से तीसरी सदी के मध्य माना गया है। अतः उनके आधार पर उसी समय से महाव्रतों की रक्षा के निमित्त रात्रिभोजनविरमण का उल्लेख अलग से किया जाने लगा।

माथुरी वाचना (३००-३१३ ई०) के आसपास उत्तरभारत में पुनः भीषण दुष्काल पड़ा। उसके कारण मुनि-संयम में शिलाचारों की बाढ़ आ गई। चैत्यावासादि शिथिलाचार पोषक मत-मतान्तर प्रभावशाली होने लगे। इसीलिए पूर्व प्रचलित "रादिभोयणविरत" पद दशवैकालिक सूत्र में आकर वए राइभोयणाओ वेरमण (व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणम्) के रूप में स्थिर हो गया अर्थात् दशवैकालिक ने उसे पृथक् रूप में व्रत घोषित कर दिया। इतना ही नहीं, मूलाचार एवं भगवती आराधना में जहाँ १-१ गाथ में ही रात्रिभोजन से उत्पन्न दोषों का वर्णन किया गया वहाँ दशवैकालिक सूत्र में रात्रिभोजन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म दोषों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है (दशवैकालिक ३/२, ४/१६-१७, ६/२५) इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्र के सभी भाष्यकारों ने भले ही रात्रिभोजनविरमण को छठवाँ व्रत अथवा अणुव्रत माना हो किन्तु रात्रिभोजन के दोषों का निरूपण प्रायः दशवैकालिक सूत्र की भाषा शैली में ही किया है।

आचार्य पूज्यपाद के पूर्व रात्रिभोजनविरमण को छठवें अणुव्रत के रूप में किसी स्थान पर वर्णित किया गया है, ऐसा उल्लेख हमें अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। प्रतीत होता है कि पूज्यपाद ने दशवैकालिक में प्रयुक्त "वए" पद का अर्थ अणुव्रत कर लिया एवं उसके खण्डन में अपने विचार व्यक्त किये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं पूज्यपाद की यही परम्परा उस श्रेणी के सभी विचारकों ने अपना लिया।

पूज्यपाद के नेतृत्व में उनकी परम्परा के आचार्यों ने यद्यपि रात्रि-भोजनविरमण को छठवाँ अणुव्रत मानने से सर्वथा अस्वीकार कर दिया किन्तु मूलाचार भगवती आराधना एवं दशवैकालिक की परम्परा क्रमश: विकसित होती रही और उसका पूर्ण विकास १३वीं सदी में आशाधर के समय में दृष्टिगोचर होता है। प्रतीत होता है कि मुनि आचार में शिथिलाचार कम होने की अपेक्षा और अधिक मात्रा में वृद्धिंगत होता रहा जिसके फलस्वरूप पूर्वोक्त चतुर्थ श्रेणी की विचारधारा वाले आचार्यों को छठवें अणुव्रत का दृढ़ता के साथ विधान करना पड़ा। इस परम्परा को विकासवादी परम्परा कहा जा सकता है क्योंकि उसने द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावना का ध्यान रखते हुए उनके विरोध में कोई गढ़वन्दी नहीं की अपितु अपनी समन्वयबुद्धि से साधु आचार में भविष्य में आने वाली किसी बड़ी भारी दुर्घटना को उचित समय पर सुरक्षित रख लिया।

उक्त स्वीकारोक्ति में अर्ध-परम्परा के उल्लंघन का जहाँ तक प्रश्न है वह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्राचीन जैन वाङ्मय के सन्दर्भ इस तथ्य के साक्षी हैं कि आद्य तीर्थंकर ऋषभ एवं महावीर को छोड़कर अवशिष्ट २२ तीर्थंकरों ने मात्र सामायिक चारित्र का उपदेश दिया है। छेदोपस्थापना का नहीं। छेदोपस्थापना चारित्र का उपदेश तो ऋषभदेव एवं महावीर ने दिया है। जैसा कि मूलाचार में उल्लेख मिलता है–

वावीसं तित्थयरा सामाइय संजमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुन: भयवं उसहो य वीरो य।। ७/३६

अजित से लेकर पार्श्व पर्यन्त २२ तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का और ऋषभ तथा महावीर ने छेदोपस्थापना संयम का उपदेश दिया है।

छेदोपस्थापना चारित्र की आवश्यकता क्यों पड़ी, इसका उत्तर भी मूलाचार में इस प्रकार दिया गया है–

आचक्खिदुं विभजिदुं विण्णादुं चादि सुहदरं होदि।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पंच पण्णत्ता।। ७/३७

छेदोपस्थापना अर्थात् ५ महाव्रतों का कथन इस कारण से किया गया कि इनके द्वारा सामायिक का दूसरों को उपदेश देना, स्वयं अनुष्ठान करना आदि का समझना सुगम हो जाता है।

आदीए दुव्विसोधण णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य।
पुरिमा या पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणंति।। ७/३८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदिम तीर्थ में शिष्य कठिनाई से शुद्ध किए जाते हैं क्योंकि ये अतिशय सरल होते हैं। और अन्तिम तीर्थ में शिष्यगण कठिनाई से निर्वाह करते हैं क्योंकि वे वक्र स्वभाव के होते हैं। इसलिए छेदोपस्थापना उपदेश की आवश्यकता हुई।

प्रारम्भ में सामायिक चारित्र की अपेक्षा अहिंसाव्रत नामक एक व्रत का कथन ही पर्याप्त था किन्तु परवर्ती परिस्थितिवश छेदोपस्थापना का विधान किया गया और उसके प्रकाश में उक्त प्राथमिक परिभाषा को विकसित कर व्रत के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह रूप पाँच भेद कर दिए गए जैसा कि पूज्यपाद ने कहा है–

सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतम्।
तदेव छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधमिहोच्यते।।

(सर्वार्थ० की ७/१ की सं० टी०)

महावीर से पूर्वकाल में मात्र एक अहिंसा व्रत के मान्य होने से मूलगुणों की संख्या भी कम थी किन्तु बाद में उसमें भी परिवर्तन हो गया।

समाजशास्त्र के नियमानुसार धार्मिक मर्यादाएँ एवं नियमादि व्यक्ति अथवा समाज की शक्ति के अनुसार उसके कल्याण के लिए बनते हैं एवं तत्कालीन द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव को देखकर उनका गठन किया जाता है। जैनाचार पर भी यही नियम लागू होता है।

महावीर के समय तक लोग ऋजुजड़ थे अतः उनके लिए कड़े नियमों के विधान की आवश्यकता न थी क्योंकि उनमें शिथिलाचार की सम्भावना न थी किन्तु महावीर निर्वाण के लगभग १६० वर्ष पश्चात् लोग परिवर्तित परिस्थितियों के कारण वक्रजड़ होने लगे अतः धार्मिक नियमों में कुछ परिवर्तन भी आवश्यक हो गया। रात्रिभोजनविरमण को छठवें अणुव्रत के रूप में मानने में भी यही बात लागू होती है। इन परिस्थितियों को देखते हुए वस्तुतः रात्रिभोजनविरमण को छठवाँ अणुव्रत मानने में आर्ष परम्परा के उल्लंघन का दोष नहीं लगता, क्योंकि एतद्विषयक विभिन्न विचारधाराओं का मूल उद्देश्य सावद्य कर्म छुड़ाकर भव्यजनों को यथार्थ मार्ग की ओर उन्मुख करना था।

श्रीमान् पं० जुगलकिशोर मुख्तार, पं० नाथूराम प्रेमी, पं० देवकीनन्दन शास्त्री एवं पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री ने उक्त विषयों पर गम्भीरता पूर्वक विस्तृत विचार किया है। अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति न कर महाकवि रइधू द्वारा वर्णित श्रावकाचार का तुलनात्मक विवेचन संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धान्तसार और अभक्ष्य-त्याग–

महाकवि रइधू का अध्ययन क्षेत्र बहुत विशाल रहा है। अपने पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर आचार्य-कल्प पण्डितप्रवर आशाधर पर्यन्त प्रायः समस्त ग्रन्थों का अध्ययन, चिन्तन और स्वाध्याय कर उन्होंने अपने सिद्धान्त और आचार के वर्णन के सीमाक्षेत्र को पर्याप्त विस्तृत किया है। यही कारण है कि उनके द्वारा विरचित शौरसेनी प्राकृत के गाथाबद्ध "सिद्धान्तसार" नामक अद्यावधि अप्रकाशित ग्रन्थ में उनकी प्रायः समस्त विचारधाराओं का समन्वय एक ही साथ मिल जाता है। कुछ ऐसी समस्याओं का समाधान भी इस ग्रन्थ में मिल जाता है, जो अभी तक दृष्टिपथ में नहीं आ चुका है।

दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक के लिए अभक्ष्य-भक्षण का त्याग अत्यावश्यक माना गया है। आचार्य वसुनन्दि ने अपने "उपासकाध्ययन" में दर्शन-प्रतिमा के अन्तर्गत अभक्ष्य-भक्षण के त्याग पर जोर दिया है।

इसी प्रकार पं० आशाधर जी ने अपने "सागारधर्मामृत" के पाँचवें अध्याय में नाली सूरण, कलिंद, द्रोणपुष्प, साधारण वनस्पति, आमगोरस-सम्पृक्त द्विदल एवं वर्षा ऋतु में बिना दले गये द्विदल तथा पत्ते के शाक को अभक्ष्यों में परिगणित किया है।

महाकवि रइधू ने सागारधर्मामृत के उक्त अभक्ष्य-प्रकरण को ज्यों का ज्यों अपनाकर भी उसे ऐसे नवीन और व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है, जिससे कोई भी साधक सहज ही अभक्ष्य के स्वरूप से अवगत हो सकता है।

दर्शन–प्रतिमा के अन्तर्गत पं० दौलतराम जी के द्वारा निर्दिष्ट बाईस अभक्ष्य प्रकारान्तर रूप में बतला ही दिये गये हैं।

यद्यपि अभक्ष्यों की संख्या रइधू के मत से निश्चित नहीं थी। उनके अनुसार तो जो भी चलितरस पदार्थ हैं अथवा प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं, वे तभी अभक्ष्य कहे गये हैं। अतएव इस प्रकार के पदार्थों की संख्या बाईस से भी अधिक सम्भव है।

पं० आशाराम जी ने सूरण आदि की चर्चा तो की है, पर सामान्य कन्द की चर्चा उन्होंने नहीं की किन्तु रइधू की दृष्टि से वह कन्द ओझल नहीं रह सका। अतएव उन्होंने प्रस्तुत गाथा के माध्यम से कन्द के त्याग पर अधिक जोर दिया है–

> **मज्जामिसमहुउंवरपमुहा फल पंच मूलगुणअट्ठं।**
> **पालइ कंद वि मूलं णवि भक्खइ दंसणगुणट्ठे।।**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धान्तार्थसार ३/१९

तथ्य यह है कि सूरण जैसे जमीनकन्द कन्द-सामान्य के अन्तर्गत भी आ जाते हैं। अत: पृथक् पृथक् कन्दों का नाम निर्देश न कर कन्द सामान्य के अन्तर्गत ही उन सबको गर्भित कर लाघव की सूचना तो कवि ने दी ही है, साथ ही सूरण, ओल, जैसे पृथक्-पृथक् कन्दों का नाम निर्देश करने के भार से भी वह मुक्त हो गया तथा जमीनकन्द की कोटि में आने वाले अगणित पदार्थों का अन्तर्भाव इसी एक कन्द में निहित कर दिया गया है।

कवि की विशाल दृष्टि में वे भक्ष्य-पदार्थ भी अभक्ष्य है, जो अन्तरंग या बहिरंग स्वास्थ्य को नष्ट करते हैं। इस कारण उसने अज्ञात नाम वाले फलों और पदार्थों को भी अभक्ष्य बताया है और कहा है कि ऐसे भक्ष्य पदार्थ, जिनका स्पर्श किसी अशुचि या घृणित वस्तु से हो जाय, तो वे भी अभक्ष्य हो जाते हैं। कवि ने "अणसोहियं फलं वा" विदल्लं अण्णं मक्खए किंचि। (सिद्धान्तसार ३/३०) में इसी बात की पुष्टि की है।

"सिद्धान्तसार" की निम्न गाथा-पंक्ति में आशाधर के समान चर्मस्थ घृत और तेल के प्रयोग के निषेध के साथ ही चर्मस्थ-जल के निषेध पर भी जोर दिया गया है। यथा–

चम्मट्ठं घयतोल्लं पाणीयं जो समाचरइ।। सिद्धान्तार्थ० ३/३०

महाकवि रइधू ने ग्वालियर के आसपास या ग्वालियर नगर में बहुत दिनों तक निवास किया था और वहाँ आज भी यह परम्परा है कि चरस द्वारा कुओं से पानी निकाला जाता है। अत: उनके मत से चरस का जल चमड़े के स्पर्श के कारण अपेय है।

अपात्र-दान-विचार–

महाकवि रइधू का विचार है कि अपात्र को दान देना केवल प्रवंचना और विडम्बना ही है। कवि ने काव्य-शैली के माध्यम से बताया है कि जिस प्रकार मिट्टी के कच्चे घड़े में रखा हुआ जल शीघ्र ही घड़े के गल जाने से नष्ट हो जाता है। ठीक उसी प्रकार गुणहीन सम्यग्दर्शनहीन असंयमी को दिया गया दान भी नष्ट हो जाता है। यथा–

जह अमघडे सलिलं णिवेसियं तं पि णासए सिग्घं।
तह णिझगुणाण दाणं विहलं सयलं समुद्दिट्ठं।। सिद्धान्तार्थ० ३/१५९

इसी तथ्य की पुष्टि के लिए रइधू ने एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत कर बतलाया है कि जिस प्रकार दूध साँप के मुख में पड़ते ही विष बन जाता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसी प्रकार अपात्र को दान देने से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यथा—

जह भुयगस्स विइण्णं खीरं हालाहलं विसं भवइ।
तेन अपत्ते दाणं बहुविहदोसं पयासेइ।। वही० ३/१६२

कवि का उक्त कथन का यह आशय प्रतीत होता है कि वह ऐसे समाज का निर्माण चाहता है जो सच्चरित्र और संयमी हो। दुश्चरित्र व्यक्ति, जिन्हें कि आत्मा के प्रति आस्था नहीं है, वे समाज के ऐसे जन्तु हैं, जो उसकी जड़ को घुन की तरह खा जाते हैं। महाकवि रइधू व्यक्ति के शुद्धिकरण को ही समाज का शुद्धिकरण मानते हैं। यह तथ्य है कि संयमी व्यक्ति ही सदाचार और त्याग के बल से समाज का गठन करते हैं। कवि का उक्त कथन निम्न गाथा से भी समर्थित होता है—

भोयणदाणयसाएं जहिं - जहिं संभवइ जोउ कयणिच्छं।
तहिं-तहिं पवरहिं भोयहिं कहव ण छंडिज्जए सोवि।। वहीं ३/१६६

कवि चारों दानों में आहारदान को इसलिए श्रेष्ठ समझता है कि शरीर का अस्तित्व ही धर्म साधन का प्रमुख हेतु है। इसीलिए वह रत्न, सुवर्ण आदि के दान की अपेक्षा आहारदान को कई गुणा श्रेष्ठ समझता है, यथा—

रयणाणं कोडि पुणु धण पुणं देइसयकधरवीढं।
तहवि ण भोयण मत्तं दिण्णं पुण्ण समं होदि।। वहीं ३/१६७

आहारदान से शास्त्रदान का फल भी मिलता है। कहा भी गया है—

छुह-दुक्ख सिखिक अंगो णाणब्भासे ण अब्भसे मंहो।
तिहि कारणेण सत्थं दत्तं हवदीह लोयम्मि।। २३६ वित्त०

अर्थात् क्षुधा के दुख से शिथिल शरीर वाला प्राणी गम्भीर ज्ञानाभ्यास नहीं कर पाता। अत: जो आहारदान देता है, इस लोक में वह उसे शास्त्रदान ही देता है।

इस प्रकार महाकवि रइधू ने दान-प्रकरण का दाता, पात्र, द्रव्य और विधिविशेष इन चारों अंगों द्वारा विस्तार से निरूपण किया है। इसी प्रकरण में कवि ने एक ऐसी सैद्धान्तिक बात की ओर भी निर्देश किया है, जिस पर कुन्दकुन्द से लेकर आशाधर तक विचार-विनिमय होता चला आ रहा है। कुछ मनीषि केवल सत्पात्र-दान की ही अनुमोदना करते हैं, करुणादान की नहीं। पंडित-प्रवर आशाधर जी ने करुणादान की अनुमोदना की है।

महाकवि रइधू ने यद्यपि स्पष्ट रूप से कहीं करुणादान का उल्लेख नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किया है, पर उन्होंने समस्त संयम-नियम का आधार बताया है। उन्होंने लिखा है कि चित्त के दयार्द्र होने पर ही उसमें संयम आदि की योग्यता उत्पन्न होती है। जिस प्रकार भूमि के रहने पर ही बीज के डालने पर अंकुर-वृक्ष की उत्पत्ति देखी जाती है, उसी प्रकार चित्त के दयार्द्र होने से ही धर्म एवं साधना की योग्यता उत्पन्न होती है। जो व्यक्ति भयभीत प्राणियों को किसी भी प्रकार का आश्रय प्रदान करता है, वह उन्हें जीवन-दान देने के समान ही सुखी बनाता है। कवि के ही शब्दों में देखिए–

संयमणियमा सव्वे दयालुचित्तस्स संभवंतीह।
भूमिबिणा णवि भुरुह कह लब्भइ पुप्फफललरिद्धि।।
कंचणमणिगणगोहणमहिपमुहाअसदेइ बहुदाणा।
जीवदयाविणु ऐदे सयलणिरच्छा पसच्छावि।।
भयभीयाणं अभयं किज्जइ दिज्जइ ण कासु पुणु दुक्खं।
चिंतिज्जइ जो अहियं तं अभयं भासियं सहियं।।

सिद्धान्तार्थ० ३/१९१-१९३

कवि के उक्त वक्तव्य से निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित होते हैं–

१. दयालु व्यक्ति दयावश किसी भी दुखी प्राणी की सहायता कर सन्तोष लाभ कर सकता है।

२. दयालु के समक्ष विवेक रहने से सत्पात्रों की आहारादिक के द्वारा सेवा तो वह करता ही है, पर साथ ही पात्रत्व के विचार के बिना ही दुखी एवं करुणोत्पादक प्राणियों की सहायता भी करता है। वस्तुत: दयार्द्रचित्त का अर्थ ही यह है कि करुणावश दुखी प्राणियों की तन मन एवं धन द्वारा सेवा करें। यथार्थदान तो स्वार्थ के छोड़ देने पर ही दिया जाता है। जितने अंश में व्यक्ति में स्वार्थ या रागबुद्धि रहती है, उतने अंश में वह दयालु बनकर दान नहीं दे पाता। इसी कारण रइधू ने अभयदान के विवेचन में करुणा को प्राधान्य प्रदान किया है और कहा है–

सुहओ सोम्मो भोइ पवरजसो वल्लहो महारूवी।
चिरजीविथ णिद्दोसो अभयाउ वि जाए देही।। वही० ३/१८५

शास्त्रदान–

शास्त्रदान के प्रसंग में महाकवि रइधू ने ऐसे तर्क उपस्थित किये हैं। जो बिल्कुल नवीन प्रतीत होते हैं और जिनसे शास्त्रदान के औचित्य के साथ किस प्रकार का शास्त्र देना चाहिए और किस प्रकार का नहीं, इस भेद अथवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवेक की सिद्धि हो जाती है। कवि के कथनानुसार–

अट्टरउद्दं झाणं जेणोहट्टंति तं जि सयदाणं।
दायव्वं मुनिविंदाह लिहिवि लिहावेवि भव्वेहिं।। सिद्धान्तार्थ० ३/१९६

उक्त गाथा से निम्न निष्कर्ष प्रकट होते हैं–

१. जहाँ अन्य ग्रन्थों में रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों की गणनाकर उनके देने का निषेध किया है, वहाँ कवि ने आर्त्त-रौद्र ध्यानों के दूर करने रूप विशेषता द्वारा कुशास्त्रों का सहज ही में निराकरण कर दिया है। कवि की यह सामान्य- निरूपण की शैली दर्शन की तथ्यपरक शैली है, जिसमें सामान्य कथन द्वारा विशेष का निषेध किया जाता है।

२. सद्शास्त्र का दान स्वयं शास्त्रों को लिखकर या दूसरों से लिखवा कर करने की चर्चा कवि ने की है, इससे सिद्ध होता है कि शास्त्र लिखने और लिखवाने की परम्परा का कवि अत्यन्त समर्थक है। प्राचीन समय में एक-एक ग्रन्थ की सहस्रों प्रतिलिपियों के वितरण करने की ओर संकेत किया गया है। कवि ने बताया है कि जिस ग्रन्थ के स्वाध्याय से कषायों का निग्रह एवं वैराग्य का सम्वर्द्धन हो तथा जो मिथ्यात्व रूपी तम का विनाशकर सम्यक्त्व रूपी भास्कर उदय कर सके वही सच्छास्त्र है। यथा–

जस्स झयणेण मुणी जयइ कसायं पयासएं तच्चं।
वरेग्गं मणि बड्ढई तं सत्थं होइ दायव्वं।।
मिच्छत्तं णिण्णासइ मोहों राउ णिसूयए जेण।
संजमु जिं पोसिज्जइ तं सच्छं एच्छु दायव्वं।।

सिद्धान्तार्थ० ३/१९७-१९८

इस प्रकार महाकवि रइधू ने शास्त्रदान के प्रसंग का बहुत विस्तार के साथ निरूपण किया है। प्रस्तुत वर्णन में उनकी काव्य-प्रतिभा भी छिपी न रह सकी। यहाँ हम दो उदाहरण उपस्थित कर सैद्धान्तिक प्रसंग को भी किस प्रकार कवि ने कवित्वमय बना दिया, यह दिखला देना आवश्यक समझते हैं। रइधू कहते हैं–

अह पुणु दिट्ठि विहूणहे हच्छे णिरु संठिएण किं दीविं।
तहं पुणु मिच्छाइट्ठिहु ण सच्छं गुणो किं वि।।

सिद्धान्तार्थ० ३/२०२

इस गाथा में कवि ने मिथ्यात्वी को दृष्टिहीन अंधा व्यक्ति तथा शास्त्र को दीपक का उपमान प्रदान कर बताया है कि जिस प्रकार अंधे व्यक्ति हाथ में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दीपक के रहने पर भी वस्तु का प्रकाश उसे प्राप्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को शास्त्र के मिल जाने पर भी आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रसंग में उपमान-उपमेय भाव बहुत ही सटीक बन पड़ा है। इसी प्रकार-

दप्पणु जि अंधहच्छे ठिउ दि पावेइ किंचि णेउ सोहा।
तिह मिच्छादिट्ठि पुणु सच्छण्णव पारगोवीह।। सिद्धान्तार्थ ३/२०३

उक्त गाथा में अंधा व्यक्ति मिथ्यात्व के लिए उपमान है, दर्पण सच्छास्त्र का और रूपावलोकन आत्मानुभूति का। इन तीनों उपमानों-उपमेयों द्वारा कवि ने बताया है कि जैसे अंधा व्यक्ति हाथ में दर्पण लिए रहने पर भी अपने रूप-सौन्दर्य के अवलोकन करने में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि व्यक्ति सच्छास्त्र के प्राप्त कर लेने पर भी आत्मानुभूति से वंचित रहता है।

उपवास-विचार :

महापण्डित रइधू ने श्रावकधर्म के निरूपण में बारह व्रतों का वर्णन करते हुए प्रोषधोपवासव्रत का बहुत ही विस्तार से वर्णन किया है। लगभग बीस गाथाओं में इस व्रत का सांगोपांग निरूपण तो किया ही है, साथ ही कई नवीन बातों पर भी प्रकाश डाला है। उसमें बताया गया है कि उपवास के बिना क़ामवासनाओं का दमन नहीं हो सकता, अत: जो व्यक्ति अपने रागद्वेष आदि पर नियन्त्रण करना चाहता है, जिसे अपनी आत्मा में ध्यान की शक्ति को उत्पन्न करना है, उसे उपवास अवश्य करना चाहिए। यथा-

उपवासेन विणा उणु वि ण सक्केच्छिकामणिम्महणे।
रायाइय जे दोसा तेवि विसट्ठंति तेणेव।। सिद्धान्तार्थ ३/२५७

उपवास के दिन सभी प्रकार के आरम्भ और परिग्रह का त्यागकर धर्मध्यान करना तथा दिनभर स्वाध्याय करते हुए समययापन करना उपवास की विधि का पालन करना अत्यावश्यक है। कवि उपवास की विधि का निरूपण निम्न प्रकार किया है-

तंबोलण्हाणसिंगारवच्छाहरणाइं रायसंजणयं।
उववासण्हे एदेण विहिज्जहिं दोससंजणया।।
णउ दप्पणावलायेणु किज्जइ दिज्जइ ण पाउ उवएसं।
णह रोमा अवसारणु ण बिहिज्जइ तेण दिवसम्मि।।

सिद्धान्त० २५९-२६०

अर्थात् उपवास करने वाले को ताम्बूल सेवन का त्याग, स्नान करने का त्याग, वस्त्र एवं शृंगार सम्बन्धी अन्य प्रसाधनों को त्याग अत्यावश्यक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्योंकि शरीर को सजाना एवं अपने को अनेक प्रकार से आकर्षक बनाना रागवृद्धि का कारण होने के कारण निषिद्ध हैं।

दर्पण में मुख-दर्शन, पापोपदेश करना आरम्भ और परिग्रह सम्बन्धी चर्चाएँ करना अथवा विकथाओं की चर्चा करना एवं बाल कटवाना आदि भी वर्जित है।

कवि ने उपवास के दिन चारों प्रकार के भोजन का त्याग आवश्यक बतलाया है। चार प्रकार के भोजनों में अशन, पान, स्वाद्य और खाद्य इन चार की गणना की गई है, जो इस प्रकार गाथाबद्ध हैं–

असणं पाणं सायं खादं वज्जेति चउविहं एणं।
मणवयकाय सिसुदिए गिण्हिज्जइ एच्छु उपवासं।। सिद्धान्त० ३/२५९

उक्त चारों भोजनों की परिभाषाएँ भी निम्न प्रकार से प्रस्तुत की गई है–

असणं उयणपमुहा पाणं खीराइं भणियं णिरु मुत्ते।
तंबोलाइं वि सायं खायं पूयाइयं णेयं।। सिद्धान्त० ३/२५०

अर्थात् गन्ना या सेव आदि फल जिनको चर्वणा करके खाया जाता है, वह अशन है। दुग्ध जल आदि "पेय" पदार्थ पान में गर्भित हैं। ताम्बूल आदि को "स्वाद्य" कहा है और खाद्य में रोटी, पूड़ी, पुए आदि सम्मिलित हैं।

कवि की इस उक्त गाथा का भाव-स्फोटन करने पर ज्ञात होता है कि ताम्बूल का यहाँ लाक्षणिक प्रयोग है। यह इत्र या अन्य सुगन्धित पदार्थ, जिनका प्रयोग घ्राण (नाक) के द्वारा उपयोग कर तोष प्राप्त किया जाता है, स्वाद्य हैं। कवि ने असणं शब्द भी लाक्षणिक रूप में ही प्रयुक्त किया है। जिन पदार्थों को चबाकर खाया जाता है, पर जो अन्नाद्य नहीं हैं, ऐसे फलादिक पदार्थ ही अशन में गर्भित है। अत: कवि की यह गाथा भाव की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रोषधोपवास के भेद-प्रभेदों का विवेचन अति नवीन न होते हुए भी व्यावहारिक और जीवन ग्राह्य है। कवि ने उत्कृष्ट प्रोषधोपवास का विवेचन करते हुए कहा है–

अग्गइं पच्छहे वासरि करेदि एक्कासणं पुणो पव्वे।
चउविह असणहं चायं उक्किट्ठ होदि उववासं। सिद्धान्त० ३/२५१

अर्थात् पर्व के पूर्व एवं अगले दिन एकाशन करना तथा पर्व के दिन चारों प्रकार के भोजनों का त्याग करना उत्कृष्ट उपवास है।

मध्यम उपवास का विवेचन करते हुए बताया गया है–

चउविह भुत्ती चाए जं किज्जइ पव्व दिवसम्मि भव्वेण।
तं मझिमं पउत्त उपवासं सव्वसुहवासं।। सिद्धान्त० ३/२५१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् पर्व कि दिनों में अष्टमी और चतुर्दशी के दिन चारों प्रकार के भोजन का त्याग माध्यम उपवास है। इसी प्रकार जघन्य उपवास की चर्चा इस प्रकार प्रस्तुत की गई है–

उववासं किरंतो पाणिय मत्तं पि गिण्हए तिसिउ।
सो वि जहण्णो भणिउ उववासे आयमे एव।। सिद्धान्त० ३/२५३

अर्थात् उपवास के दिन अष्टमी और चतुर्दशी के दिन जलमात्र ग्रहण करना जघन्य उपवास है। ऐसा आगम में कहा है।

उक्त तीनों प्रकार के उपवासों पर विचार करने से ज्ञान होता है कि महाकवि रइधू ने आगम की परम्परा को ग्रहण कर भी बहुत ही स्पष्टतापूर्वक उत्तम, मध्यम और जघन्य उपवासों का विवेचन किया है।

वसुनन्दि के उपसकाध्ययन में जघन्य उपवास का निरूपण करते हुए पर्व के दिन आचाम्ल, निर्विकृति और एकभक्त को जघन्य उपवास कहा है। यथा–

आयंबिल णिव्वयडी एयट्ठाणं च एयभत्तं वा।
जं कीरइ तं णेयं – जहण्णयं पोसहविहाणं।। वसुनन्दि० २९२

पर कवि रइधू ने जघन्य उपवास के लिए इतनी अधिक छूट देनी उचित नहीं समझी। उन्होंने एकाशन को जघन्य उपवास नहीं माना। उनके मत से श्रावक को शक्त्यभाव में मात्र जलग्रहण करना ही जघन्य उपवास है। पूर्वोक्त (३/२५३) गाथा में कवि ने "पाणियमत्त" कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि एक बार भोजन करना व्रती के लिए जघन्य उपवास नहीं है। हमारा अनुमान है कि एकाशन की परम्परा अव्रती श्रावक के लिए जघन्य उपवास मानी जा सकती हैं। हमारे इस कथन की पुष्टि रइधू की इस "तं पुणु दुविहं णेयं णिच्चं णेमित्तियं हि सुत्तिम्मि" गाथापंक्ति (सिद्धान्तार्थ० ३/२६२) से भी होती है, जिसमें कवि ने उपवास के दो भेद किये हैं नित्य और नैमित्तिक। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि नैमित्तिक में एकाशन विधेय है।

एक बात यहाँ और विचारणीय है कि महाकवि रइधू ने "एकाशन" शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया है, जबकि दूसरे ग्रन्थों में "एकभक्त" अथवा प्राकृत में "एयभत्तं" शब्द मिलते हैं। प्रतीत होता है कि कवि के समय में एकाशन शब्द बहुत ही प्रसिद्ध हो चुका था। अत: उसने पूर्वोक्त (३/२५१वीं) गाथा में इसका स्पष्ट प्रयोग किया है।

उपवास के फलों का विवेचन भी कवि का अपना मौलिक है। उसने बताया है कि सम्यग्दृष्टि पुरुष उत्कृष्ट उपवास करने से परम्परया मोक्ष को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्त करता है और मिथ्यादृष्टि व्यक्ति विधिपूर्वक उपवास करने से स्वर्ग प्राप्त करता है। यथा–

सम्मद्दंसणजुत्तो जइ उववासेयसा सोसणं देहो।
ता परमपरभणिउ मोक्खस्स य कारणं सुत्ते।
मिच्छाइट्ठीउ पुणु कय उव्वासेण पावए सग्गे।
तहिं पंचेंदिय सुक्खं अणुहुंजइ अणुहुंजइ इंछियं सव्वं।।

सिद्धान्त० ३/२६४-२६५

इस प्रकार महाकवि रइधू ने गृहस्थ-धर्म का बहुत ही सुन्दर निरूपण किया है। उन्होंने उद्दिष्ट प्रतिमाधारी के लिये प्रतिदिन दो बार प्रतिक्रमण, चार बार स्वाध्याय, तीन बार जिनवन्दन और दो बार योग भक्ति करने का निर्देश किया है। यथा–

पडिकमणं विहुवारं चारिवार उवइट्ठं।
जिणबंदण वारतया बिहुवारं जोयभत्तीए।।
उद्दिट्ठि पडिमधारी आयरणं आयरेउ कयणिच्छं।
अणंपि अणसणाइय दोदहविह आयरेणेव।। सिद्धान्त० ३/२९७

वस्तुत: समन्तभद्र के बहुआयामी अवदानों की चर्चा एक लघु-निबन्ध में रेखांकित कर पाना सम्भव नहीं उनके लिए कई स्वतन्त्र शोध ग्रन्थों के लेखन की आवश्यकता है। संक्षेप में तो यहाँ यही कहा जा सकता है कि तत्कालीन विषम साम्प्रदायिक एवं राजनैतिक आँधियों एवं तूफानों में तथा तालठोक शास्त्रार्थों के युग में जैन दर्शन के प्रभाव को धूमिल करने के षड्यन्त्रों को प्रभावहीन बनाने के लिए ही मानो उनका अवतरण हुआ था। सम्भवत: वे प्रथम साधक आचार्य थे, जिन्होंने एक ओर एकान्तवादियों की संकीर्ण मानसिकता की उग्रता को शिथिल कर समन्वय एवं सर्वोदय का सन्देश दिया और विश्वबन्धुत्व की कामना की तो दूसरी ओर परवर्ती आचार्यों-लेखकों के लिए अपने रत्नकरण्डश्रावकाचार जैसी सरल भाषा शैली में श्रावकों के लिए सुन्दर आचार-संहिता के लेखन द्वारा समयानुकूल श्रावकाचार-लेखन के लिए प्रोत्साहित-प्रेरित किया। जैन जगत् के लिए तो उनके महान उपकार हैं ही, संस्कृत वाङ्मय एवं प्राच्य भारतीय विद्या के विकास के क्षेत्र में भी उनका अविस्मरणीय योगदान माना जायेगा। सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० एस० एस० आर० आयंगर ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ Studies in South Indian Jainism में ठीक ही लिखा है कि– "दक्षिण भारत में आचार्य समन्तभद्र का उदय न केवल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिगम्बर जैनों के इतिहास में ही बल्कि संस्कृत साहित्य एवं संस्कृति के इतिहास में भी एक विशेष युग को रेखांकित करता है–"SamantBhadra's appearence in South Indian marks an epoch not only in the annals of Digambar Tradition, but also in the history of Sanskrit Literature and Indian Culture."

सन्दर्भ

१. समन्तभद्रोऽजनि भद्रमूर्त्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य।
यदीयवाग्वज्रकठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान्।।
श्रणवेलगोल शिलालेख सं० १०८/२५८
(मंगराजकविकृत) शक सं० १३५५

२. अपेक्षैकान्तादिप्रबलगरलोद्रेकदलिनी,
प्रवृद्धानेककान्तामृतरसनिषेकानवरतम्।
प्रवृत्ता वागेषा सकलविकलादेशवशतः
समनताद्भद्रं वो दिशतु मुनिपस्यामलमतेः।।

३-४ कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते।।४४।। आदिपुराण-जिनसेन

५. श्रीमत्समन्तभद्रादि कविकुंजरसंचयम्।
मुनिवंद्यं जनानन्दं नमामि वचनश्रियै।।३।।
अलंकार चिन्तामणि-अजितसेन। तथा–
अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेः जिह्वा।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति सति का कथान्येषाम्।।
विक्रान्तकौरव-प्रशस्ति। तथा–
वाराणस्यां बभूव शशिधरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी।
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी।। तथा–
कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः।
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुः दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट।।

६. समन्तभद्रस्य चिराय जीवयाद् वादीभवज्रांकुशसूक्तिजालः।
यस्य प्रभावात्सकलावनीयं वंध्यासदुर्वादुकवार्तयापि।।
श्रवणवेलगोल शिलालेख स० १०५-२५४
लेखनकाल शक सं० १३२०

७. नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे।
यद्वचो वज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमुताद्रयः।। आदिपुराण-जिनसेन

८. पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चात्मालवसिन्धु ढक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं।।

श्रवणवेलगोल शिलालेख सं० ५४

९. सरस्वतिस्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः।
जयन्ति वाग्वज्रनिपातपाटितप्रपराद्धान्त महीध्रकोटयः। गद्यचिन्तामणि-

१०. दे० गद्यचिन्तामणि (वादीभसिंह)

११-१२ दे० सन्दर्भ सं० ३, ४, ७, ८

१३. उक्तं च समन्तभद्रेणोत्सर्पणीकाले आगामिनि मविष्यतीर्थकरपरमदेवेन काले कल्पशतेऽपि च। श्रुतसागरकृत षट्प्राभृत टीका।
तथा—आभावि तीर्थकरन् अप्प समंतभद्रस्वामिगलु
अन्यत्र च—अट्ठहरी णव पडिहरि चक्किचउक्कं च एयसेणिय समंतभद्दो।
सेणिय समंतभद्दो तित्थयरा हुंति णियमेण।। अज्ञातमहाकवि
श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत।
देशे समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात् पदर्द्धिकः।। विक्रान्तकौरवप्रशस्ति

१४. दे० स्वयम्भूस्तोत्र-तत्वप्रदीपिका, गणेशवर्णी संस्थान, वाराणसी प्रकाशन १९८३ का प्रधान सम्पादकीय वक्तव्य, पृ० ३

१५. दे० वहीं, पृ० २०

१६. इति फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनुना शान्तिवर्मनामा श्री समंतभद्रेण (अष्टसहस्री की ताडपत्रीय प्रति से)

१७. वंद्यो भस्मक भस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-
दत्तोदात्तपद-सवमन्त्रवचनव्याहतचन्द्रप्रभः।
आचार्यस्य समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ,
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः।।

श्रवणवेलगोल शिलालेख सं० ५४/६७
शक सं० १०५०

१८. हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च। रत्नकरण्ड ३/३/४९

१९. मद्यमाँसमधुत्यागः सहाणुव्रतपंचकम्।
अष्टौमूलगुणानाहुर्ग्रहिणां श्रमणोत्तमाः।। रत्नकरण्ड० ३/२०/६६

२०. दे० चारित्रपाहुड गाथा सं० २१-२६

२१. दे० कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा सं० ३२८-३९१

२२. दे० वसुनन्दि-श्रावकावार, गाथा सं० ५७-५०८

२३. आदिपुराणः-जिनसेन, ३९/१४३-१५०

२४ वसुनन्दि-श्रावकाचार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रावकाचारों का क्रमिक विकास—एक अध्ययन

—डॉ० कस्तूर चन्द कासलीवाल
जयपुर

भगवान महावीर ने अपने संघ को मुनि, आर्यिका श्रावक एवं श्राविका इन चार भागों में विभाजित किया। उन्होंने चारों के लिये ही भिन्न-भिन्न नियम, उपनियम, कर्त्तव्य एवं जीवन शैली निर्धारित की और उसी के अनुसार संघ का संचालन किया जाता रहा। भगवान महावीर का एक बहुत बड़ा संघ था जिसमें ग्यारह गणधर एवं सात सौ केवलज्ञानी परमेष्ठी थे। सब मिलाकर उनके संघ में चौदह सौ मुनीश्वर थे। इनके अतिरिक्त छत्तीस हजार आर्यिकाएं थीं। एक लाख श्रावक एवं तीन लाख श्राविकाएं थीं। इतने बड़े संघ का संचालन भगवान महावीर एवं उनके गणधर करते थे।

महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् तीन केवली, पांच श्रुत केवली, ग्यारह आचार्य दश पूर्वधारी, ग्यारह अंगधारी, पांच ग्यारह अंगधारी आचार्य के बाद और भी दशांश, नवांग, अष्टांगधारी आचार्य एवं एकांगधारी आचार्यों का जैन संघ पर शासन चलता रहा और ऐसा लगता है उस समय तक पूरा जैन संघ चाहे वह मुनि हो अथवा श्रावक सभी भगवान महावीर द्वारा बतलाये हुए नियमों, उपनियमों के साथ चलते रहे। सारा संचालन एक ही आचार्य द्वारा किया जाता रहा।

इसके पश्चात् जैन संघ में कुछ शिथिलता आने लगी। आचार्य कुन्द कुन्द के आते-आते मुनियों एवं श्रावकों दोनों में पूर्व परम्परा से चले आचरण अथवा मार्ग में विकृतियां आने लगी इसलिये ईसा की प्रथम शताब्दी में आचार्य कुन्द कुन्द ने सर्वप्रथम श्रावकों के लिये अपने चारित्र पाहुड़ में मुनियों एवं श्रावकों के लिये आचार धर्म का संक्षिप्त प्रारूप उपस्थित किया। चारित्र पाहुड़ में उन्होंने श्रावक धर्म पर प्रकाश डालते हुये ग्यारह प्रतिमाओं एवं बारह व्रतों आदि पर प्रकाश डाला। इसके पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द ने ही अपने रयणसार ग्रन्थ में श्रावक धर्म पर और भी विस्तृत चर्चा की। इन्होंने श्रावकों के कर्त्तव्य में बताया कि दान और पूजा प्रमुख है। भक्ति पूर्वक दिये गये दान का फल मोक्ष तथा सांसारिक प्रयोजन के लिये दिया गया दान का फल संसार है। इस प्रकार आचार्य कुन्द कुन्द प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने 'रयणसार' ग्रन्थ में श्रावकों के आचार धर्म से सम्बन्धित विषय को लिपि बद्ध करने का शुभ कार्य किया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य कुन्द कुन्द के नाम से एक और श्रावकाचार का प्रकाशन स्व० पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री ने अपने श्रावकाचार संग्रह के चतुर्थ भाग में किया है। यह श्रावकाचार संस्कृत भाषा में निवद्ध है जिसमें १२ उल्लास हैं। लेकिन आचार्य कुन्द कुन्द के नाम से इसे पाठकों के सामने प्रस्तुत करना एक भ्रान्ति को उत्पन्न करना है क्योंकि आचार्य कुन्द कुन्द ने जब अपना पूरा साहित्य ही प्राकृत भाषा में निषद्ध किया है तो फिर इस श्रावकाचार को संस्कृत भाषा में निबद्ध करने की क्या आवश्यकता आ पड़ी। श्रावकाचार संग्रह के सम्पादक पं० हीरालाल जी ने भी यह मत व्यक्त किया है कि यह श्रावकाचार किसी दूसरे कुन्द कुन्द का है जिसके सम्बन्ध में इतिहास मौन है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह कारण ऐसे बताये हैं जिनके कारण प्रस्तुत कुन्द कुन्द श्रावकाचार को प्रथम शताब्दी पूर्व आचार्य कुन्द कुन्द का बतलाना गलत परम्परा को पोषण करना होगा।

इस कुन्द कुन्द श्रावकाचार में १२ उल्लास हैं। इनमें श्रावक व्रत एवं क्रिया आदि का ही वर्णन नहीं है किन्तु श्रावकों के लिये सामान्य ज्ञान की भी चर्चा की गयी है। उसमें लिखा है कि आचार्य, कवि, विद्वान एवं कलाकारों को सदा प्रसन्न रखना चाहिये। श्रावकों के लिये व्यायाम करने का भी विधान बतलाया गया है इसके अतिरिक्त विभिन्न तिथियों में स्नान करने का फलाफल भी दिया गया है। एक मनोरंजक चर्चा नवीन वस्त्र धारण करने के सम्बन्ध में लिखी है कि मंगल एवं शनि को नया वस्त्र नहीं पहिनना चाहिये। इसके अतिरिक्त सेवक-स्वामी के पास किस प्रकार और कहां बैठे इसका भी भान होना आवश्यक है। भोजन के लिये आये हुये व्यक्ति से जाति, गोत्र एवं पढ़ाई के सम्बन्ध में पूछना ठीक नहीं है। भोजन के पश्चात् अपने सलाहकारों के साथ श्रावक को आय व्यय की समीक्षा करना चाहिये। विष कन्या से विवाह नहीं करना चाहिये। विष कन्या की पहिचान बताते हुये लिखा है कि यदि उसका अंग अथवा उपांग बहुत रोमवाला हो तो वह विष कन्या ही है।

उमास्वामी श्रावकाचार

आचार्य कुन्द कुन्द के पश्चात् आचार्य उमास्वामी प्रथम शताब्दी में हुए जिनके द्वारा रचित तत्वार्थ सूत्र जैन गीता के नाम से प्रसिद्ध है। इनके द्वारा रचित उमास्वामी श्रावकाचार का प्रकाशन श्री दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर में सन् १९९१ में हुआ था। यह श्रावकाचार भी आचार्य उमास्वामी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का न होकर किसी दूसरे आचार्य अपना भट्टारक का लिखा हुआ है जिन्होंने उसे अपने नाम से प्रसिद्ध न करके पूर्वाचार्य उमास्वामी के नाम से प्रसिद्ध किया है। लेकिन दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान की संस्थापिका पूज्य आर्यिका ज्ञानमती माताजी ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। इस श्रावकाचार में पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, यशस्तिलक-उपासकाध्ययन, धर्म संग्रह श्रावकाचार के कितने ही श्लोकों को ज्यों का त्यों अपना लिया है। पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री के मतानुसार यह श्रावकाचार १७वीं-१८वीं शताब्दी का रचा हुआ मालूम देता है। यह श्रावकाचार अध्यायों में अथवा सर्गों में विभक्त नहीं है। पूरे श्रावकाचार में ४७६ संस्कृत पद्य हैं। यह संस्कृत पद्यों के साथ पं० हलायुध के हिन्दी अर्थ सहित है।

इसमें देव पूजा के प्रकरण में ग्रन्थकार ने गृह चैत्यालय निर्माण का पूरा समर्थन किया है। चैत्यालय में विराजमान की जाने वाली प्रतिमा ग्यारह अंगुल प्रमाण से अधिक नहीं होना चाहिये। पूजा करने वाले श्रावक को पूर्व मुख या उत्तर मुख करके बैठ कर ही करनी चाहिये। प्रतिमा निर्माण करने का फल का निरूपण करते हुये लिखा है कि जो श्रावक विम्बफल के पत्ते के समान छोटा सा भी चैत्यालय बना कर उसमें जौ के समान जिन प्रतिमा विराजमान करके पूजा करते हैं उनकी मुक्ति अति निकट आ गयी है ऐसा समझना चाहिये। षट् कर्मों से युक्त उत्तम कुल अथवा जाति वाला व्यक्ति पूजा करने का अधिकारी है शेष को स्वाध्याय संयम तप त्याग एवं दर्शन करने का अधिकार है। श्रावकाचार में एक माह मात्र रात्रि भोजन त्याग वाले व्यक्ति को एक पक्ष उपवास का फल होना लिखा है। श्रावकों को पशुओं का व्यापार, शराब आदि का व्यापार, बैलगाड़ी आदि का व्यापार तथा लगान आदि के व्यापार का भी निषेध किया गया है। अन्त में तत्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय की स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी है। ऐसा लगता है कि समाज पर इस श्रावकाचार का बड़ा प्रभाव पड़ा और इसमें वर्णित जीवन शैली को समाज ने खूब अपनाया।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार

आचार्य समन्तभद्र आचार्य उमास्वामी के बाद होने वाले आचार्य हैं। इनके द्वारा रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार समाज में अत्यधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय श्रावकाचार है। अत्यधिक सुबोध एवं सरल भाषा में रचित १५० पद्य इसके मूल भाग का अंश है जिनमें सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्- चारित्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का अच्छा निरूपण किया गया है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं, सल्लेखना, बारह व्रत आदि का वर्णन श्रावकाचार का मुख्य विषय है। आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक के आठ मूलगुणों में पांच स्थूल पापों का त्याग एवं मद्य मांस मधु के त्याग को सम्मिलित किया गया है।

इसके अतिरिक्त स्वामी समन्तभद्र ने देशावकालिक को गुणव्रत न मानकर शिक्षाव्रतों में माना है और भोगोपयोग परिमाण व्रत को चारित्र पाहुड़ के समान गुणव्रत माना है। सल्लेखना को शिक्षाव्रत में नहीं गिनाया किन्तु वैयावृत्य को शिक्षाव्रत में गिनाया है। इसी तरह इत्वरिका परिगृहीतागमन और इत्वरिका अपरिगृहीतागमन में कोई भेद न करके उनके स्थान पर इत्वरिकागमन को रख कर विटत्व नामक एक और अतीचार की स्वतन्त्र कल्पना करके ब्रह्मचर्याणुव्रत ने गिनाना सर्वथा उपयुक्त है। पूजा का वैय्यावृत्य के अन्तर्गत वर्णन करना रत्नकरण्ड श्रावकाचार की एक और विशेषता है।

कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा

प्रस्तुत रचना का नाम के साथ श्रावकाचार नहीं जुड़ा हुआ है लेकिन इसके रचयिता स्वामी कार्त्तिकेय ने इसमें श्रावक के आचार कर्म का वर्णन किया है। पंडित जुगल किशोर जी मुख्तार के मतानुसार स्वामी शर्त्तिकेय ईसा की तीसरी शताब्दी में हुए थे। इनको एक मात्र कृति अनुप्रेक्षा है जो उनके नाम के साथ प्रसिद्धि प्राप्त है। यह प्राकृत भाषा में निबद्ध है। इसके विषय प्रतिपादन की स्वतन्त्र शैली है। इसमें कर्म के १२ भेद बतलाये हैं। इनमें सम्यग्दर्शन युक्त स्थूल दोष रहित, व्रतधारी, सामायिकी, पर्वव्रती, प्रासुक आहारी, रात्रि भोजन विरत, मैथुन त्यागी, आरम्भत्यागी, संग त्यागी, कार्यानुमोद विरत और उद्दिष्ट-आहारविरत है। इसमें प्रथम सम्यग्दर्शन युक्त के अतिरिक्त शेष ग्यारह प्रतिमाओं के नाम है। कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में दार्शनिक श्रावक एवं कृतिक श्रावक के भेद से दो प्रकार के श्रावकों का अच्छा वर्णन मिलता है। इसमें भी शिक्षाव्रतों में सल्लेखना को न मानकर आचार्य समन्तभद्र के समान देशावकाशिक व्रत में माना है। अतिथि संविभाग व्रत में आहार दान पर विशेष जोर दिया गया है। उनके अनुसार आहारदान में तीनों दान स्वतः ही आ जाते हैं। प्रोषध प्रतिमा में वह पहर का उपवास एवं सचित्त त्याग प्रतिमा में सभी प्रकार के सचित्त पदार्थों का निषेध किया है। रात्रि भोजन त्याग वाला व्रती स्वयं न खाने और दूसरों को नहीं खिलाने वाला होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रत्नमाला

आचार्य शिवकोटि द्वारा रचित रत्नमाला में श्रावक धर्म का सामान्य वर्णन है। इसमें पांच उदुम्बर फल एवं तीन मकार का त्याग तो बालकों में भी देखा जा सकता है-यह कह कर उनके त्याग को अष्ट मूलगुणों में ना गिनाकर स्वतन्त्र रूप से गिनाया है। प्रस्तुत रत्नमाला में चैत्य चैत्यालय बनवाने का, साधुजनों की वैयावृत्य करने का, सिद्धान्त ग्रंथ एवं आचार परक ग्रन्थों का स्वाध्याय करने वालों में धन व्यय करने का, जीर्ण चैत्यालयों का उद्धार करने तथा दीन जनों को दान देने का पूरा समर्थन किया गया है।

पद्चरित

आचार्य रविषेण ने पद्मपुराण के १४ वें पर्व में श्रावक धर्म का वर्णन किया गया है। आचार्य रविषेण ने भी बारह व्रतों में पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत गिनाये हैं इनमें अनर्थदण्ड व्रत, दिग्व्रत और भोगोपभोग संख्यान में गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधानशन, अतिथि संविभाग और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत कहे गये हैं। अन्त में मद्य, माँस, मधु, धूत, रात्रि भोजन त्याग, और वेश्यागमन के त्याग का विधान किया गया है।

इसी तरह अन्य आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में मानव धर्म का वर्णन किया है। आचार्य जटा सिंह नन्दि ने वरांग चरित्र में, आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण में, आ० जिनसेन द्वितीय ने महापुराग में श्रावक धर्म का वर्णन किया है।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

आचार्य अमृतचन्द ने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में अहिंसा का जितना मौलिक विवेचन किया है उतना विवेचन अन्यत्र नहीं मिलता। धर्म, देवता या अतिथि के निमित्त से की गई हिंसा,-हिंसा नहीं है इसका भी खण्डन किया गया है। इसी के साथ समाधिमरण आत्मघात नहीं है इसका भी सयुक्तिक वर्णन किया गया है।

उपासकाध्ययन

सोमदेव मुनि ने यशस्तिलक चम्पू के छठे, सातवें और आठवें अध्याय में श्रावक धर्म का वर्णन किया गया है उसका नाम उपासकाध्ययन दिया है। उपासकाध्ययन में तीन प्रकार एवं पांच उदम्बर फलों के त्याग को आठ मूल गुण बताया है। सोमदेव ने अहिंसा व्रत की रक्षार्थ रात्रि भोजन और अभक्ष्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्तु भक्षण का त्याग आवश्यक माना है। पूजन प्रकरण के विधान को एक तदाकार मूर्ति पूजन विधि और दूसरी अतदाकार पूजन विधि का उल्लेख किया है। सोमदेव के कथन में कहीं-कहीं ब्राह्मण विधि का प्रभाव दृष्टि गोचर होता है। उपासकाध्ययन का समय विक्रम सम्वत् १०१९ है।

अमितिगति श्रावकाचार

आचार्य समन्तभद्र के पश्चात् आचार्य अमितिगति हुये जिन्होंने श्रावकाचार नाम से अपने ग्रन्थ का नामकरण किया। इसमें १४ परिच्छेदों में श्रावक धर्म का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। एक अध्याय में आत्म अस्तित्व की सिद्धि तथा ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व का खण्डन किया गया है। रात्रि भोजन एवं अभक्ष्य भोजन का जोरदार विरोध किया गया है। लेकिन श्रावकाचार में अमितगति बारह व्रतों, ग्यारह प्रतिमाओं का संक्षिप्त वर्णन किया है। इसी तरह सप्त व्यसनों के त्याग के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। एक विद्वान ने तो अमितगति श्रावकाचार के देख कर वह विचार व्यक्त किया है कि अमितगति संप्तव्यसनों के त्याग को श्रावक धर्म में सम्मिलित नहीं करना चाहते।

विक्रम की १० वीं शताब्दी में होने वाले चामुण्डराय ने अपने चारित्रसार गंथ ने श्रावकाचार वर्णन को ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर श्रावक धर्म का वर्णन किया है तथा पांच अणुव्रतों के साथ रात्रि भोजन त्याग को छठे अणुव्रत के रूप में प्रस्तुत किया है। श्रावक के बह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और भिक्षुक इन अवस्थाओं का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त भिक्षुओं के अनागार, यति, मुनि और ऋषि इन चार भेदों को बतलाकर उनके स्वरूप को भी कहा है।

वसुनन्दि श्रावकाचार

वसुनन्दि श्रावकाचार भी श्रावकाचारों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इन्होंने श्रावकाचार का ग्यारह प्रतिमाओं के आकार पर वर्णन किया है तथा उन्होंने प्रथम दर्शन प्रतिमाओं में सप्तव्यसनों के त्याग को आवश्यक बतलाया गया है। लेकिन इन ग्यारह प्रतिमाओं एवं बारह व्रतों का वर्णन श्रावक प्रतिक्रमण जिसे गणधर-ग्रथित माना जाता है के आधार पर एवं उसकी गाथाओं को उसी रूप में प्रस्तुत करके किया है। लेकिन उसमें उनकी ११वीं गाथा को छोड़ दिया गया है। श्रावकाचार में जिन भवन एवं जिन प्रतिमा विराजमान करने का बहुत महत्त्व बतलाया गया है। वे कहते हैं कि धनिया के पत्ते के बराबर जिन भवन एवं सरसों के बराबर जिन प्रतिमा स्थापना का महान् फल बतलाया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गया है। आचार्य वसुनन्दि १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के विद्वान् थे।

सावयधम्म दोहा

सावयधम्म दोहा अपभ्रंश की कृति है इसके निर्माण के प्रति विद्वान् एक मत नहीं है। इसके निर्माताओं में देवसेन, रामसेन, जोइन्दु एवं लक्ष्मीचन्द्र का नाम लिया जाता है। राजस्थान के शास्त्र भण्डारों में सावयधम्य दोहा की प्रति है। पहले जयपुर के पाटोदी के मन्दिर में इसकी एकमात्र प्रति संवत् १५५५ को बतायी गयी है लेकिन वह भी वर्तमान में अनुपलब्ध है।

इसमें ग्यारह प्रतिमा रूप श्रावक धर्म का निरूपण है। आठ मूलगुणों में तीन मकार एवं पांच उदम्बर फलों के त्याग के अतिरिक्त अगलित जलपान का निषेध, चर्मस्थित घृत तेलादि का परित्याग पात्र-कुपात्र को दान देने का फल, उपवास का माहात्म्य, धर्मधारण करने का सुफल एवं जिनेन्द्राभिषेक की प्रेरणा दी गयी है। जिनालय एवं जिनबिम्ब निर्माण को भी अच्छा कार्य बतलाया गया है।

सागारधर्मामृत

महापंडित आशाधर द्वारा रचित सागार धर्मामृत श्रावकाचार की एक उत्तम लोकप्रिय कृति मानी जाती है। इसकी रचना संवत १३०० की है। सागार धर्मामृत की यह विशेषता है कि उसमें श्रावकधर्म का पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया गया है। उसमें पूर्वाचार्यों का कोई वर्णन छूटने नहीं पाया है। सप्त व्यसनों एवं अष्ट मूलगुणों के अतिचारों का वर्णन सागाधर्मामृत में हुआ है जो अन्यत्र नहीं मिलता। श्रावक की दिनचर्या एवं साधक की सल्लेखना का भी अच्छा वर्णन हुआ है।

धर्म संग्रह श्रावकाचार

पं० मेधावी कृत इस श्रावकाचार में सात अधिकारों में से केवल चार अधिकारों में ही श्रावकाचार का वर्णन किया गया है। इसमें अष्ट मूलगुणों के वर्णन के पश्चात् काक मांस खदिरसार का कथानक दिया गया है। इस श्रावकाचार के छठे अधिकार में सूतक पातक का वर्णन भी मिलता है। मेघावी ने इस श्रावकाचार की संवत् १५४१ कार्तिक कृष्णा १३ को नागोर (राजस्थान) में रचना समाप्त की थी।

उक्त श्रावकाचारों के अतिरिक्त भट्टारक सकलकीर्त्ति का प्रश्नोत्तरो-पासकाचार, गुणभूषण श्रावकाचार, राजमल्ल की लाटी सहिंता अभ्रदेव का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्रतोद्योतन श्रावकाचार, पद्मनन्दि श्रावकाचार सारोद्धार, भट्टारक रत्नभूषण का धर्मोपदेश श्रावकाचार, भट्टारक सोमसेन का त्रिवर्णाचार, अमोघ वर्ष का धर्मोपदेश श्रावकाचार, आदि कितने ही श्रावकाचारों की एक लम्बी सूची है जिनमें श्रावक धर्म पर विस्तृत रूप में अथवा संक्षिप्त रूप से वर्णन मिलता है।

अपभ्रंश में भी तीन श्रावकाचार मिलते हैं जिनमें पं० श्रीचन्द का रत्न-करण्ड शास्त्र, लक्ष्मीचन्द का उपासकाचार एवं छक्कम्मोवएसरमण माला के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी भाषा में भी श्रावकाचार निबद्ध किये हुए मिलते हैं इनमें बुलाकीदास का प्रश्नोत्तरोपासकाचार, पद्मकवि का श्रावकाचार, दौलतराम का क्रिया कोष, पं० टोडरमल का ज्ञानानन्द श्रावकाचार, बख्तरामसाह का मिथ्यात्व खंडन, चम्पाराम का धर्मप्रश्नोत्तर श्रावकाचार के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार श्रावक धर्म का बखान करने वाले आचार्य, भट्टारक, मुनि, विद्वान, किसी एक धारा का समर्थन न करके अपने अपने विचारों के अनुसार श्रावक धर्म-पालन की बात करते हैं। अहिंसामूलक संस्कृति-ही श्रावक धर्म का आधार है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन आचार–संहिता के मूलाधार : श्रावक व्रत

–डा० प्रेमसुमन जैन,
उदयपुर

प्राचीन संस्कृति और दर्शन के अनुसंधान और अभ्यास ने यह निष्कर्ष दिया है कि जीवन का सच्चा सुख संयम में ही है। संयम से ही साधना को पूर्णता मिलती है। इसलिए जैनधर्म के चिंतकों ने भी श्रमण एवं ग्रहस्थों की आचार-संहिता को सुव्यवस्थित एवं संयमपूर्ण बनाया है। ऐसे साधक चिंतकों में आचार्य समन्तभद्र स्वामी अग्रणी नीतिशास्त्री हुए हैं। उन्होंने जीवन और आचार की मीमांसा नपे-तुले शब्दों में करके गागर में सागर भरने की शैली को चरितार्थ किया है। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ "रत्नकरण्ड-श्रावकाचार" केवल जैनों का नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानव समाज के लिए नैतिक जीवन का मार्ग प्रशस्त करता है।[1] उनके द्वारा प्रतिपादित श्रावक व्रतों के महत्व को मानव-कल्याण की दृष्टि से देखने का प्रयत्न आवश्यक है।

जैन आचार-संहिता : गृहस्थ और मुनि

जैन आचार-संहिता में गृहस्थ धर्म के अन्तर्गत प्रमुख रूप से पांच व्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का विवेचन है।[2] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह इन पांच व्रतों का पालन गृहस्थ अपनी सामाजिक सीमा में रहते हुए करता है, अत: आंशिक रूप से पालन होने के कारण इन्हे "अणुव्रत" कहा गया है, जबकि मुनि-जीवन में इनका पूर्णरूप से पालन करने का विधान होने से ये "महाव्रत" कहलाते हैं। इन पांच व्रतों का कार्यक्षेत्र व्यक्ति की अपेक्षा समाज में अधिक है, अत: जैन आचार ने व्यक्ति में सामाजिक गुणों के विकास की ओर ध्यान दिया है। मनुष्य में "असत्" वृत्तियों के प्रति अरुचि और सदाचार के प्रति रुचि जागृत हो इसके लिए उसे जीव-मात्र के प्रति मैत्रीभाव, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दीन-दुखियों के प्रति करुणाभाव तथा विरोधियों के प्रति पक्षपात रहित माध्यस्थ भाव रखने की प्रेरणा जैन आचार्यो ने दी है। सदाचारी गृहस्थ का सामाजिक जीवन मर्यादित हो एवं उसमें संचय की वृत्ति न बढ़े इसके लिए उसे दिग्व्रत, देशव्रत एवं अनर्थदण्डव्रत इन गुणों का पालन करने के लिए कहा गया है। वह दैनिक जीवन में धार्मिक आचरण से विमुख न हो तथा उसमें दान की वृत्ति बनी रहे, इसके लिए उसे चार शिक्षाव्रतों को पालन करने का विधान किया गया है।[3]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुनि-जीवन की कठोर साधना के कारण जैन आचार-संहिता को प्राय: निवृत्तिमूलक एवं व्यक्तिवादी आचार की संज्ञा कुछ विद्वान् देते हैं। यह किन्तु आंशिक सत्य है। वस्तुत: जैन आचार व्यक्ति के गुणात्मक विकास के साथ-साथ पूरी मानव-जाति के उत्थान की भावना अपने में समाये हुए हैं। प्राणि-मात्र के प्रति जीवन-रक्षा की भावना जैन आचार में निहित है। सम्पूर्ण जैन आचार-संहिता में से निम्नांकित कुछ ऐसे विश्व-व्यापी मूल्य हैं, जो मानव-कल्याण के साथ-साथ प्राणिमात्र को जीवन की सुरक्षा प्रदान करन में सक्षम हैं।

जैन आचार-संहिता सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र की साधना द्वारा पालन की जाती है, जिसका परिणाम अहिंसा, अनेकान्त एवं अपरिग्रह इन तीन प्रमुख प्रवृत्तियों के रूप में प्राप्त होता है।[४] सम्यग्दर्शन से सही दृष्टि प्राप्त होती है। पदार्थों का वास्तविक रूप ज्ञात होता हैं, आत्मा और शरीर का सम्बन्ध-बोध होता है, अत: सम्यग्दर्शन-को-उपलब्ध व्यक्ति अनासक्त हो जाता है। अनासक्ति से वह अपरिग्रह व्रत के पालन का अधिकारी बनता है। उसे निर्भय, अमर और सर्वगुण-सम्पन्न आत्मा के लिए फिर वस्तुओं के संग्रह और उनमें मोह की आवश्यकता नहीं रह जाती। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में व्यक्ति अनाग्रह चित्त वाला हो जाता है। उसमें अनेकान्तवाद फलित हो जाता है। वह प्रत्येक वस्तु के विभिन्न पहलुओं और उससे संबद्ध सम्भावनाओं को महत्व देता हुआ वैचारिक दृष्टि से उदारमना हो जाता है। अनासक्त और अनाग्रह चित्त वाले व्यक्ति के लिए सभी प्राणियों में समत्वभाव आ जाता है, यही सम्यक् चारित्र की उपलब्धि है।

आचार्य समन्तभद्र अपने ग्रन्थ में पहले गृहस्थ के चारित्र को बारह प्रकार के व्रतों वाला कहा है और बाद में स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल मैथुन सेवन और स्थूल परिग्रह रूप पापों से विरक्त होने को "अणुव्रत" बताया है। यथा-

प्राणातिपात वितथव्याहार-स्तेय-काममूर्च्छाभ्य: ।
स्थूलेभ्य: पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति।। – रत्न. ५२

यहाँ पर स्थूल पापों से विरत होने के लिए श्रावक को कहा गया है। वास्तव में ये स्थूल पाप वही हैं, जिनके लिए आज भी राजकीय कानून के अनुसार और सामाजिक दृष्टि से दण्ड देने के विधान हैं। अत: समन्तभद्र ने केवल धार्मिक दृष्टि से नहीं, अपितु नैतिक और नागरिकता को भी सामने रखकर श्रावकों के व्रतों की व्याख्या की है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहिंसा : जैन आचार का मूलाधार

जैन शास्त्रों के अध्ययन से यह भली-भांति स्पष्ट हो जाता है कि समस्त जैन आचार अहिंसा की नींव पर खड़ा है। भगवान् महावीर ने अहिंसा को ही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म कहा है। यह धर्म लोक-की-पीड़ा का हरण करने वाला है। अहिंसा के व्यापक क्षेत्र का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिये, उन पर शासन नहीं करना चाहिये, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिए, उन्हे परिताप नहीं देना चाहिए, उनका प्राण-वियोजन नहीं करना चाहिये।[५] यही ज्ञानी होने का सार है और यही समस्त धर्मों का सार है कि किसी प्राणी की हिंसा न हो। अहिंसा चर एवं अचर सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है। अहिंसा के समान दूसरा धर्म नहीं है। भगवती-आराधना में कहा गया है कि अहिंसा सभी जीवन-पद्धतियों (आश्रमों) का हृदयं है और सभी ज्ञानों का उत्पत्ति-स्थान है।[६] आचार्य अमृतचन्द्र ने जैन आचार के सभी आचार-नियमों को अहिंसा से ही विकसित माना है। इस तरह अहिंसा वास्तव में जैन-आचार का मूलाधार है, और अहिंसा का आधार सभी प्राणियों में आत्मवत् दृष्टि है।

जैन आचार-संहिता में अहिंसा के आध्यात्मिक पक्ष के साथ-साथ उसके सामाजिक एवं व्यावहारिक पक्ष पर भी विस्तृत चिन्तन किया गया है। गृहस्थ जीवन में रहते हुए परिवार, समाज, देश आदि के प्रति व्यक्ति के कई कर्तव्य होते हैं। उन कर्तव्यों का पालन करने में कुछ हिंसा हो जाती है, अतः जैन आचार-संहिता में हिंसा के चार स्तर बताये गये हैं:--

१. **संकल्पजा हिंसा** : जान-बूझकर संकल्प करके किसी पर आक्रमण करना।
२. **विरोधजा हिंसा** : जीवन के अधिकारों की सुरक्षा के लिए विवश होकर हिंसात्मक प्रवृत्ति करना।
३. **उद्योगजा हिंसा** : आजीविका के लिए व्यापार, कृषि आदि में हिंसात्मक प्रवृत्ति करना।
४. **आरम्भजा हिंसा** : जीवन-निर्वाह के लिए भोजन आदि तैयार करने एवं दैनिक कार्यों में होने वाली हिंसा।.

इनमें से प्रथम हिंसा जैन दृष्टि से सभी व्यक्तियों के लिए त्याज्य है। द्वितीय तथा तृतीय प्रकार की हिंसा गृहस्थ जीवन में व्यक्ति कर सकता है, किन्तु उसमें भी उसके विचारों में शुद्धता और अनासक्ति होना आवश्यक है। चतुर्थ प्रकार की आरम्भजा हिंसा गृहस्थ और साधु दोनों के जीवन में होती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। जैन दृष्टि से इस हिंसा से भी बचने का यथासम्भव प्रयत्न किया जाता है, जिसका मूल उपाय आन्तरिक शुद्धि को उपलब्ध करना है, अत: सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो जैन आचार-संहिता में हिंसा का सूक्ष्म रूप भी धर्म में स्वीकृत नहीं है। हिंसा चाहे विचारों की हो अथवा बाह्य रूप में शारीरिक, दोनों ही जैन आचार का धार्मिक नियम नहीं हो सकती। पूर्ण अहिंसक होना ही जैन आचार का अन्तिम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति में सभी प्राणियों के प्रति करुणा, प्रेम, मैत्री, समानता, सहिष्णुता आदि का जो व्यवहार किया जाता है, वही अहिंसा की सामाजिक उपलब्धि है। जैन आचार की इस तीव्र अहिंसक दृष्टि ने भारतीय समाज में शाकाहारी जीवन पद्धति को सुरक्षित रखा है। धन एवं सैन्य बल की कमी होने पर भी भारतीय मनोबल और चारित्रिक दृढ़ता को अहिंसा ने ऊंचाइयों तक पहुँचाया है। वर्तमान युग में महात्मा गांधी ने अहिंसा के जिस प्रयोग को विश्वव्यापी बनाया है वह जैन आचार में स्वीकृत अहिंसा का व्यावहारिक रूप ही है। इसके पूर्व भी जैन साहित्य में अनेक कथाएं एवं जीवन-चरित्र अहिंसा की जीवन में साधना को स्पष्ट करते हैं।[७]

अन्य व्रतों का महत्व –

अहिंसा की साधना के लिए ही जैन आचार में सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्च, अपरिग्रह, दान आदि व्रतों का विधान है। जैन ग्रन्थों में इनकी सूक्ष्मतर व्याख्याएं भी प्राप्त हैं, किन्तु यदि गहराई में देखा जाए तो जैन आचार आध्यात्मिक उपलब्धियों का ही सामाजिक परिणाम है। वस्तुत: अहिंसा का अर्थ आत्मज्ञान है। समताभाव की उपलब्धि है, जो व्यक्ति आत्मा और लोक के अन्य पदार्थों के स्वरूप का सही ज्ञान कर लेगा, उसकी वृत्ति इतनी सात्विक हो जाएगी कि उससे हिंसा हो न सकेगी, क्योंकि समानधर्मा जीवों को दु:ख कौन पहुँचाना चाहेगा और किस लाभ के लिए? जब व्यक्ति अहिंसा को उपने हृदय में इतना उतारेगा तभी वह सामाजिक हो सकेगा। अहिंसा की इस घुरी पर ही जैन आचार के अन्य व्रत गतिमान हैं। सत्य व्रत का अर्थ केवल झूठ बोलने से बचना नहीं है, इसका वास्तविक अर्थ है संसार को उसके असली रूप में देखना, और स्वयं को असली रूप में प्रकट करना। बनावटीपन का अभाव की सत्यव्रत का पालन करना है। इस व्रत से व्यक्ति को अपनी सही सामर्थ्य का पता चल जाता है, अत: वह निर्भयता को प्राप्त हो जाता है। निर्भयता की स्थिति में चोरी करने की आवश्यकता नहीं रहती। किसकी सुरक्षा के लिए अथवा किस आवश्यकता की पूर्ति के लिए चोरी की जाए ? अत: आत्मा और शरीर के इस भेद-विज्ञान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का अनुभव ही अचौर्य है। इससे मिलावट, मुनाफाखोरी, कूट-व्यापार आदि चोरियों का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। शरीर के मिथ्या-पोषण की भावना के कारण ही चोरी का अस्तित्व है। पूर्णता चाहे आत्मशक्ति की हो, अथवा भौतिक समृद्धि की वहाँ चोरी नहीं होगी, बेईमानी नहीं होगी। इस तरह जैन आचार ने इस समस्या का निदान मूल कारण को समाप्त करने में खोजा है।

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन गृहस्थ और साधु दोनों के लिए आवश्यक है, मर्यादाओं में कुछ अन्तर है। वासनाओं पर विजय प्राप्त कर शक्ति के अपव्यय को रोकना इस व्रत की मूल भावना है, अत: जैन दृष्टि में ब्रह्मचर्य का आध्यात्मिक अर्थ किया गया-ब्रह्म (परमात्मा) जैसा आचरण, अर्थात शुद्ध, निर्मल आत्मा के सुख का अनुभव करना। इसकी प्राप्ति के लिए स्वदारा-संतोष, शीलका पालन, इन्द्रियों का निग्रह आदि सब साधन हैं।

जैन आचार-संहिता में अपरिग्रह व्रत की व्याख्या अनुपम है। परिग्रह की सीमा रखना, वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह न करना, समवितरण को महत्व देना, दान देना आदि सब अपरिग्रह की ओर जाने वाले रास्ते हैं, किन्तु वस्तुत: अपरिग्रह द्वारा शाश्वत सुरक्षा में पहुँचना इस व्रत का मूल उद्देश्य है। मनुष्य आत्मा के स्वभाव से, शक्ति से, समृद्धि से परिचित न होने के कारण असुरक्षा में जीता है, अभाव में बना रहता है। उसे लगता है कि वह वस्तुओं का जितना अधिक संग्रह कर लेगा, उतना अधिक सुरक्षित और सुखी हो जाएगा, किन्तु वह यह नहीं जानता कि अचेतन पदार्थ चेतन आत्मद्रव्य की क्या सुरक्षा करेंगे ? आत्मा जो स्वयं पूर्ण और आनन्दमय है, उसे परिग्रह की वस्तुएं क्या दे सकेगी ? अत: महावीर ने कहा कि वस्तुओं में आसक्ति एक बेहोशी (मूर्च्छा) है-मूर्च्छा परिग्रह: । इस बेहोशी को तोड़ना ही अपरिग्रह है। यह मूर्च्छा आत्मा की पूर्णता को जानने से ही टूटेगी। व्यवहार में कम संचय, कम खर्च, कम आसक्ति करने से उस ओर जाने में मदद मिलेगी। इससे दूसरों का हक भी नहीं छिनेगा और समाज में सहअस्तित्व प्रकट होगा। जैन आचार ने अपरिग्रह व्रत पर उतना ही जोर दिया है, जितना अहिंसा पर, क्योंकि दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। संक्षेप में, ममत्व (तृष्णा) का विसर्जन और समत्व (समविभाजन) की साधना का नाम ही "अपरिग्रह" है। इससे अध्यात्म और समाज दोनों प्रभावित होते हैं।

सामाजिक योगदान –

जैन-आचार का चिन्तन अध्यात्म की भूमि पर और उसका व्यवहार समाज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के धरातल पर होता है। जैन व्रत-नियमों के पालन से व्यक्ति का गुणात्मक विकास होता है, और समाज में नैतिकता के फूल खिलते हैं, अत: जैन आचार-संहिता में समाज-चिन्तन उपेक्षित नहीं है। सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में जैन ग्रन्थों में विपुल सामग्री उपलब्ध है। जैन आचार सामाजिक आवश्यकता की दृष्टि से कई व्रत-विधान निरूपित करता है।[८] उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :–

दान –

जैन आचार-शास्त्र में गृहस्थ के शिक्षाव्रतों में एक है अतिथि संविभागव्रत, जिसमें अतिथि को भोजन, औषधि, शास्त्र आदि का दान देना विहित है। मनुष्य अपनी उपलब्धियों का समविभाजन कैसे करे, इसका सूक्ष्म विवेचन जैन ग्रन्थों में है। दान देते समय देने की विधि, देने की वस्तु, देने वाले (दाता) और ग्रहण करने वाले (पात्र) इन सब पर विचार करना आवश्यक है। देने वाले में अहंकार का भाव नहीं होना चाहिए, अपितु उसे क्षमाशील एवं कृतज्ञ होना चाहिये। उसके द्वारा दान में दी गयी वस्तुएं मनुष्य के सदाचरण में सहायक होनी चाहिये।

सेवा –

"अतिथिसंविभाग" को आचार्य समन्तभद्र ने "वैयावृत्य" (सेवा) भी कहा है, जिसमें सदाचारी व्यक्ति की सेवा करना सम्मिलित है। यथा –

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योपि संयमिनाम् ।। – रत्न. ११२

इसी सेवा-भावना के कारण गृहस्थों को मुनि-संघ का माता-पिता कहा गया है। मुनियों के आचार में भी वैयावृत्य नामक एक तप माना गया है, जिसकी साधना में वे रोगी, वृद्ध एवं असहाय मुनियों की सेवा करते हैं। इस प्रकार की सेवा धर्म की सेवा मानी जाती है। जैन आचार में औषधि दान को प्रमुखता मिलने के कारण आज भी जैन समाज मानव-सेवा के कार्य में अग्रणी है। इससे वह अभय दान का लाभ भी प्राप्त करता है।

स्वाध्याय –

जैन आचार-ग्रन्थों में स्वाध्याय गृहस्थ एवं मुनि-जीवन दोनों के लिए एक महत्वपूर्ण सेवा मानी गयी है। अज्ञान को हटाकर ज्ञान की क्रिया में प्रवृत्त होना एवं दूसरों को भी इसी में लगाना स्वाध्याय की मूल भावना है। इससे शास्त्र-दान का उद्देश्य भी पूरा हो जाता है। शास्त्र-दान के विधान के कारण जैन परम्परा के गृहस्थों ने हजारों ग्रन्थ-भण्डारों की स्थापना की है, जो भारतीय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाज की सांस्कृतिक गतिविधियों के प्रमुख केन्द्र हैं। इनमें आज भी हजारों बहुमूल्य ग्रन्थ सुरक्षित हैं। इस प्रकार दान, सेवा और स्वाध्याय आदि सामाजिक कार्यों द्वारा जैन आचार ने आध्यात्मिक जीवन को व्यावहारिक बनाया है। अनासक्ति (त्यागभावना) के द्वारा मन के दुराचरण को, अनाग्रह (अनेकान्त) के द्वारा वाणी के दुराचरण (वैचारिक असहिष्णुता) को, और अहिंसा द्वारा शरीर के दुराचरण, (हिंसा, शोषण, परिताप आदि) को दूर करने का प्रयत्न जैन आचार द्वारा किया जाता है। इसी में मानव-कल्याण एवं प्राणि-संरक्षण की भावना छिपी हुई है। इनका पालन करने वाला ही सच्चा जैन है। सच्चा मानव है।

सन्दर्भ

१. क. *समीचीन धर्मशास्त्र (अपरनाम रत्नकरण्ड उपासकाध्ययन)*
भाष्यकार–पं. जुगल किशोर मुख्तार, दिल्ली, १९५५

ख. *रत्नकरण्डश्रावकाचार (क्षुल्लक धर्मानन्द, दिल्ली, १९८८)*

२. *गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणु-गुण-शिक्षाव्रतात्मकं चरणम् ।*
पंचत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातम् ।। - रत्न. ५१

३. *जैन आचार: सिद्धान्त और स्वरूप (आ. देवेन्द्रमुनि), उदयपुर*

४. *जैन-बौद्ध और गीता का समाज-दर्शन (डॉ. सागरमल जैन), १९८२*

५. *आचारांगसूत्र, १.४.१*

६. *सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं ।*
सव्वेसिं वदगुणाणं पिंडो सारो अहिंसा हु ।।
भगवती आराधना, गा-७८९

७. *प्राकृतकथा साहित्य में अहिंसा का दृष्टिकोण (डॉ. प्रेमसुमन जैन) नामक निबन्ध, अमरभारती, १९८१*

८. *भगवान महावीर : आधुनिक सन्दर्भ में (बीकानेर, १९७८) ।*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रावकाचार का विज्ञान

–डॉ० अभय प्रकाश जैन

ग्वालियर

जीवन एक दुःखांत नाटक है। जितना ही उपक्रम इसमें सुख सहेजने का किया जाता है, उसकी परिणति उतनी ही दुःखान्त होती जाती है। ऐसा विरोधाभास ही सामान्य नियति है, जिसे हम कदम-कदम पर झेलने को मजबूर हैं। ऐसा क्यों है, हम स्वयं ही नहीं जान पाते। अलग अलग धार्मिक नेताओं, महात्माओं ने, संतों ने इस विचार की अलग अलग व्याख्यायें की हैं। ईसा ने कहा-यह जीवन पाप और संघर्ष को झेलने को मिला है। जिंदगी हमारे पापों की उपज है। तीर्थंकरों ने कहा कि जीवन आठ प्रकार के कर्म बंधन का परिणाम है। इसकी शृंखला अनादि से अनवरत है। गंभीरता से सोचने पर नतीजा यह बनता है कि जीवन एक त्रासदी है, जिसे हम झेलने को अभिशप्त हैं।

मनुष्य प्रकृति की गोद में अस्तित्ववान बना, उसे प्रकृति की ओर से 'विवेक' के रूप में एक विरासत और वरदान मिला है, और 'कर्म' करने की अमोघ शक्ति मिली है। यह उसकी वैयक्तिक स्वतंत्रता है, जो उसे प्रकृति प्रदत्त है। प्रकृति ने मानव को जन्म, और मृत्यु की स्वतंत्रता नहीं दी है। यदि मानव प्रकृति प्रदत्त स्वतंत्रता का उपयोग प्रकृति के विरुद्ध करता है तो प्रकृति पहले उसे चेतावनी देती है, फिर दण्ड देती है। दण्ड देना प्रकृति का अधिकार है। वैयक्तिक स्वतंत्रता का प्रयोग प्रकृतिसम्मत स्वभावजन्य धर्माचरण के लिए है, अधर्माचरण के लिए नहीं है। प्रकृति ने सभी जीवों को नंगा पैदा किया है। मनुष्य ने अपनी स्वतंत्रता से कपड़े पहन लिए है। प्रकृति में प्रत्येक जीव के भोजन के लिए उचित खाद्य सामग्री पहले से ही तैयार रखी है किन्तु मनुष्य ने अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करके अपने ढंग से भोजन तैयार किया है। प्रकृति ने जीवों की सुरक्षा के लिए अनुकूल पर्यावरण की रचना की। विश्व के समस्त कार्य प्राकृतिक नियमों की निर्धारित सीमा/मर्यादा की सीमा में रहें तो प्रकृति मानव को दोषी नहीं ठहराती और उसे कोई कड़ा दण्ड नहीं देती। परन्तु जब मनुष्य प्रकृति की सीमा से निरपेक्ष होकर समाज निर्मित नियमों के अनुपालन में आया तो पग-पग पर प्राकृतिक आपदाऐं आने लगी।

धर्म मनुष्य को परत दर परत नंगाकर देने की प्रक्रिया है। जीवन की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंचकोशीय संचरना में प्रत्येक कोश-स्तर पर जो जितना नंगा हो सके वह उतना ही धार्मिक है। नंगा होने पर ही मनुष्य की मौलिकता उभरती है। वह, वह होता है जो वह है। मौलिकता में ही वह सच्चा सृजनशील होता है। सृजन शीलता की चरम अवस्था ही परम आनंद की अवस्था है। परम आनंद में ही मनुष्य की मुक्ति निहित है और मुक्ति ही धार्मिक जीवन का चरम साध्य है। हम नंगे पैदा तो हुए लेकिन हमने कुंठागस्त होकर हर स्तर पर कपड़े पहन लिए। तात्पर्य यह कि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनंदमय कोशों के स्तर पर भी इसका परिणाम यह हुआ कि हमारा वास्तविक मैं हमारी आंखों से ही ओझल हो गया और हम खो गए। हम बहुत अधिक सभ्य चलते फिरते आदमी होते हुए भी खोखले होकर जिंदा लाश हो गए और स्थिति बेहद संकटापन्न हो गई। विकासक्रम की बात कहें तो मनुष्य को अधिक से अधिक ज्ञान और संकल्पधारी होना चाहिए था। यही प्रकृति की मांग है लेकिन जब उसने अविवेकपूर्ण असंयत रूप धारण किया तो उसे हमारे संतों गुरुओं ने संबोधन किया ताकि उसमें नैतिकता मूलक ज्ञान का अँकुरण हो सके। यही आचरण श्रावकाचार के नाम से जाना जाने लगा।

यह श्रावकाचार सिर्फ जैन बन्धुओं के लिए ही नहीं अपितु उन सभी मानवमात्र के लिए उपयोगी है जो अपना कल्याण चाहते हैं। वर्तमान संदर्भ में जब पर्यावरण हर प्रकार से दूषित है चाहे शारीरिक, मानसिक, आधारात्मक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक कोई भी क्षेत्र हो तब इसकी उपादेयता और भी अधिक बढ़ गई है। आजकल मद्य मांस का सेवन सभ्यता की श्रेणी में सम्मिलित होता जा रहा है, शराब शरबत की तरह अतिथि सत्कार की वस्तु बनती जा रही है, अंडों को शाकाहार की श्रेणी में सम्मलित किया जा रहा हो, मछलियों को जल ककड़ी की संज्ञा दी जा रही हो और इन सबको खाने पीने के प्रचार-प्रसार में केन्द्र/राज्य शासन का भरपूर सहयोग व प्रोत्साहन मिल रहा हो ऐसी स्थिति में इन सबकी हेयता और अस्वास्थ्य कर सिद्ध करना और इनकी हानियों से परिचित कराना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो गया है। इनके प्रयोग से अनेकानेक रोग शरीर में घर कर लेते हैं और अंततः डाक्टरों की सलाह और हिदायत के कारण ये सब मांसाहारियों को भी छोड़ना पड़ता है। १९९५ की वर्ष शाकाहार वर्ष घोषित की गई है। भले ही अब तक जैन कुल में परंपरागत कोई मांस, मध, मधु व अभक्ष्य-भक्षण नहीं करता हो, अब तक जिस तरह संस्कारों को बचाये हैं भविष्य में भी इसी तरह इन दुर्व्यसनों और हिंसक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रवृत्तियों से समाज को बचाये रखना है।

पंच उदम्बर फल वृक्ष के काठ को फोड़कर फ़लते हैं, इन फलों में चलते फिरते उड़ते अनेकानेक जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते है। ये जीव अनेक रोगों के वैक्टीरिया, मलमूत्र विसर्जन आदि करते रहते हैं। ये फल त्रसजीवों की योनि है जैसे बट, पीपल, काकर, गूलर, अंजीर। इनके अलावा इस श्रेणी में जो भी फल आते हैं वे भी त्यागने योग्य हैं। आहार विज्ञान में भी इन्हें अयोग्य बताया गया है क्योंकि इनमें अनेकानेक वायरस रहते हैं।

स्थूल पाप, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से सभी परिचित हैं सभी धर्मों में इनको पाप माना गया है। सरकारी कानून भी इन सभी को वर्जित करता है और दण्ड देता है। चित्त को शांत और निराकुल रखने के लिए क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि कषायों को मर्यादित करना अनिवार्य है। अशांतचित्त से अनेक रोग जैसे, Hyper tantion, High Blood Preassure, Low Blood Preasure, पेट दर्द, अनिद्रा, सिरदर्द, दस्त लगना, बार-बार पेशाब जाना, पेप्टिक अलसर आदि हो जाते हैं। बासा भोजन, रोटी पराठा, पूड़ी, सब्जी, दाल रायता श्रावक को त्याज्य है। फ्रिज में रखी वस्तुएं भी श्रावक धर्म के अनुसार उपयोगी नहीं हैं। आइसक्रीम में भी कुछ मांसाहारी तत्व मिलाए जाते हैं। पाँच सितारा होटलों तथा धनिकवर्ग के विवाह पार्टी में भी सलाद में अयोग्य पदार्थो का उपयोग किया जाता है। भौतिक हिंसा का स्वरूप चाहे जैसा हो उसमें संलग्न सभी को भावहिंसा के अनुसार कर्मवंध होता है। सौंदर्य प्रसाधनों का प्रयोग, पशु पक्षियों द्वारा सरकस का खेल, क्रूर निदर्यता का आयोजन भी इसी श्रेणी में है। भ्रूण हत्या, गर्भपात, विज्ञान की देन हैं लेकिन ये अमानवीय हैं।

सूक्ष्मजीव विज्ञान (Microbiology) कहलाता है। इनका आकार एक M.M. (मि०मि०) के दस हजारवें भाग से भी कम हो सकता है। उचित वातावरण मिलने पर यह जीव कुछ ही सैकिण्डों में विभाजित होकर असंख्य हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैन धर्म में बताए गए निगोदिया जीव शायद यही हैं। ये सूक्ष्म जीव लाभदायक/हानिकारक दोनों ही प्रकार के होते हैं। कुछ लाभ-दायक जीव कुछ समय बाद हानिकारक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। जैन धर्म में अधिकांश खाद्य पदार्थों की एक निश्चित मर्यादा बताई गई है अर्थात् उस अवधि के बाद वह पदार्थ अभक्ष्य हो जाता है। सूक्ष्म जीवों के आक्रमण से ही ये पदार्थ दूषित हो जाते हैं। जैन धर्म के इन दिशा-निर्देशों को जानकर वास्तव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में आश्चर्य होता है। अत्यंत प्राचीनकाल में जब कि आधुनिक उपकरणों का अभाव था, किसी प्रकार जैन संतों को इन Micro Organism का ज्ञान हुआ। यह उनके तीव्र ज्ञान चक्षुओं के अनुसंधान का ही प्रतिफल है।

जैन आहार की मर्यादाएं–

आटा की मर्यादा	बरसात में	३ दिन
	ग्रीष्म में	५ दिन
	शीत में	७ दिन

बरसात में नमी अधिक और तापक्रम २५°से ३५°से० के आसपास होता है ऐसी स्थिति में एस्परजिलस म्यूकर राइजोपस, सेकेरोमाहसिस वाइरस आटे को दूषित कर देते है। ग्रीष्म और शीत में अधिक और कम ताप हाने से इनकी वृद्धि क्रमशः पांच और सात दिन बाद हो पाती है। दूध एवं उससे बनने वाले पदार्थों में तो वैक्टीरिया का अधिकतम प्रभाव होता है। दूध दही मक्खन, पनीर खोआ में निम्न जीवाणु पाए जाते हैं–साइक्रोफिलिक, मीजोफिलक थर्मोफिलिक, उर्मोयुयूरीक। दूध से दही बनने की क्रिया में लेक्टोज और ग्लूकोज थर्मराओं के अणु ग्लाइकोलिलिस द्वारा Pyrubic Acid बनाते हैं। जो सीधे ही हाइड्रोजन परमाणुओं द्वारा अपचयित होकर लैक्टिक एसिड बनाता है इसी कारण दूध में खट्टापन आ जाता है जिससे दूध के प्रोटीन व वसा अवशोषित होकर दही बन जाते हैं। दही की मर्यादा (यदि गर्म दूध में जामन डालकर) २४ घंटे की है। जैसे जैसे वे सिलस, क्लोस्ट्रिडियम, स्यूडोमोनास, प्रोटोमास आदि जीवाणुओं की क्रियाशीलता बढ़ती जाती है अल्कोहल का निर्माण शुरू हो जाता है।

रात्रि भोजन त्याग आज की परिस्थितियों को देखते हुए जरूरी हो गया है। धार्मिक रूप से तो इसका महत्व है ही। पर्यावरण दूषित होने से सूक्ष्म जीवों, वैक्टीरिया, वायरस का घनत्व बढ़ता ही जा रहा है। बिजली के बल्बों, ट्यूब लाइटों पर शाम होते ही मच्छरों के झुण्ड के झुण्ड टूट पड़ते हैं। सूर्य के प्रकाश में सूक्ष्मजीव सोए रहते हैं जैसे ही सूर्यास्त होता है वे अपना भोजन ढूंढने के लिए निकल पड़ते हैं। प्रायः देखा जाता है कि हम जैन बंधु सूर्यास्त के संधि कालपर ही भोजन करते हैं यह समय तो रात्रि भोजन से भी अधिक त्याज्य है इस समय कीट पंतग अपनी पूरी सक्रियता और भूखे होने के कारण उतावले होकर बाहर निकलते हैं। आहार विज्ञानियों ने भी दिन के संधिकाल पर भोजन न करने की हिदायत दी है। उनका यह भी कहना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है कि सूर्यास्त के बाद जठराग्नि मंद हो जाती है। आयुर्वेद के अनुसार शरीर में स्थित आहार की थैली को कमल नाल कहा है। जैसे कमल पुष्प सूर्य प्रकाश में ही खिलता है उसी प्रकार उदर स्थित कमल नाल भी सूर्य प्रकाश में ही पूर्णत: खुली और सक्रिय रहती है। पेट के एन्जायम जो खाना पचाने का काम करते हैं वे दिन में सक्रिय रहते हैं। पशु भी अपने नैसर्गिक नियमों का पालन करते हैं! दिवाभोजी दिन में ही अपनी उदर पूर्ति करते हैं और शाम होते ही विश्राम के लिए चले जाते हैं। रात्रि भोजी प्राय: मांसाहारी जानवर हैं। पर यह समझ में नहीं आता कि इस विवेकवान मनुष्य को किस श्रेणी में रखा जाय जो दिन रात खाने की तैयारी या खाने में ही लगा रहता है। कोई कह सकता है कि पालतू जानवर भी तो दिनों रात कभी भी खाते हैं, ये बिचारे मानव के संसर्ग संत्संग में आ गए हैं पराधीन हैं। स्वार्थी मानव उन्हें दिन में भर पेट भोजन नहीं देगा तो मजबूरन उन्हें रात में खाना पड़ेगा। एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि सारे विश्व के लोगों में यह प्रचारित है कि जैन रात को भोजन नहीं करते और पानी छानकर पीते हैं। इससे जैन धर्म की उज्जवल कीर्ति है, ऐसा न करने से कीर्ति की बट्टा लगता है। विवाहोत्सवों में भी यह बात ध्यान देने योग्य है।

महाभारत के २८० श्लोक में देखिए—

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत, राक्षसी कीर्तिता हिंसा।
संध्ययोरुभयोश्चैव, सूर्ये चैवा चिरोदित्ते।।

रात्रि में श्राद्ध न करें, न केवल रात्रि, बल्कि सूर्यास्त व सूर्योदय के समय दोनों संध्याओं के संधिकाल में भी श्राद्ध व भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि यह समय भी रात्रि के निकट होने से रात्रि दोष से दूषित हो जाता है।

पानी छानकर पीने, शुद्ध करके पीने की बात तो आज के परिवेश में अनिवार्य हो गई है प्रचार माध्यम भी इसे पर्यावरण के अत्यन्त दूषित हो जाने के कारण प्रचारित कर रहे हैं। पानी को दूषित करने वाले Micro Organism, अमीवा, यूग लीना, पैरामीशियम विशेष हैं। अमीबा से Ameobisis, यूगलीना से Dysentry, Dihorrails, तथा Paramiclium से पेट में Worms हो जाते हैं। Unicelleuor Organism इतने घातक नहीं होते जितने कि Multi Eilleclar Organism। क्योंकि इतनी कार्य क्षमता की गति अत्यंत तीव्र होती है। वैक्टीरिया, पोटोजुआ और वाइरस Micro Organison पानी में मिलकर रोग पैदा करते हैं और संक्रमण भी करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खादी के वस्त्र को दो तहों में रखकर पानी छानकर पीने से असंख्य सूक्ष्म त्रस जीवों की रक्षा तो होती ही है अपने स्वास्थ्य का भी बहुत बड़ा कल्याण होता है। प्रासुक जल दो प्रहर, तो उबालकर तैयार किया पीने योग्य जल आठ प्रहर तक पीने योग्य रहता है। आजकल बाजार में Water Filter मिल रहे हैं ये भी स्वास्थ्य के लिए उपयोगी हैं इनमें सबसे अच्छा Aqva Guard यूरेका फार्विस क० का होता है जो पूर्णत: स्वच्छ, सूक्ष्मजीवों रहित है और पाइप लायन में ही फिट कर दिया जाता है। जो कचरा और सूक्ष्मजीव इसके फिल्टर पर रह जाते हैं उनका विल्छन भी किया जा सकता है। सुई की नोक पर ३६४५० जीव देखे जा सकते हैं।

व्यसन के त्याग की बात जैन धर्म में कही गई है। श्रावकों के लिए सप्तव्यसन त्याग करने को इसलिए कहा गया है कि यह सभी आत्म कल्याण से विमुख करते हैं। जुआ खेलना, मांस खाना, शराब पीना, वेश्या सेवन, शिकार करना, चोरी करना, पर स्त्री सेवन धार्मिक दृष्टि से तो त्याज्य हैं ही, सामाजिक नैतिक और कानून की दृष्टि से भी दंडनीय अपराध हैं। इनमें रुचि रखने से अत्यंत संक्लेश परिणाम होने से रोग लग जाते हैं। एड्स की बीमारी कितनी घातक है, जिन जानवरों का मांस बाजार में बिकता है उनकी डाक्टरी जाँच तक नहीं की जाती फलत: भयंकर बीमारी मांसाहारियों को होती हैं। जुआ, लाटरी, सट्टा, रेस खेलने वालों की मानसिक स्थिति अच्छी नहीं रहती वे सदैव छटपटाते रहते हैं। अनिद्रा और Hypertention, Blood Preasure, रोग देखे जाते हैं।

कच्चे और पके दोनों प्रकार के गौ रस में दो दल वाले अनाज के मिश्रण में मुंह की लार मिलते ही त्रसजीवों की उत्पत्ति हो जाती है। यह Micro Biology ने अपने प्रयोगों से सिद्ध कर दिया है। दहीवड़ा, कढ़ी, रायता इसीलिए अभक्ष्य कहा गया है। प्राय: देखा जाता है कि दही के साथ बूरा या शक्कर डालकर हमारे भाई खाते हैं यह भी नितांत अभक्ष्य है क्योंकि दही में मीठा पड़ते ही बहुत तेजी से त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है। गुना की जैन विज्ञान संगोष्ठी में भक्ष्य/अभक्ष्य पदार्थों में त्रसजीवों की उत्पत्ति को प्रोजेक्टर पर दिखाया गया था। संक्षेप में–

ओला, घोर बड़ा, निशि भोजन, बहु बीजा, बैंगन संधान।
बड़, पीपर, ऊमर, कठूमर पाकर फल जो होइ अजान।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कंदमूल माटी विष आमिष, मधु, माखन अरु मदिरापान।
फल अति तुच्छ तुषार चलित रस, यो जिनमत बाईस बखान।।

बुद्ध वीर जिन, हरि हर ब्रह्मा, राम, कृष्ण आदि किसी भी नाम से कहे जाते हों पर उनका वीतरागी सर्वज्ञ होना अनिवार्य शर्त है। वे निशदिन दर्शन वंदन अर्चन करने योग्य हैं उनकी भक्ति करना ही चाहिए। जिनेन्द्र भक्ति से मन निर्मल होता है। इससे निजानुमति Self realisation होता है। हमारे भगवान न कुछ देते है न कुछ लेते हैं वे तो वीतरागी हैं उनके दर्शन से हमें सम्यक्‌दर्शन का निमित बनता है। यह मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है संम्पूर्ण देश में एलाचार्य श्री विद्यानंद जी की षष्ठि पूर्ति के उपलक्ष्य में २२ अप्रैल ८४ से २१ अप्रैल ८५ तक श्रावकाचार वर्ष मनाया गया था। आज फिर जरुरत है कि उसे नवीनतम वैज्ञानिक संदर्भो में समायोजित किया जाय। देव- शास्त्र गुरु पर सच्चा श्रद्धान इससे बढ़ेगा।

सामायिक में कुछ 'करना' और कुछ 'होना' दोनों ही है। होना अंतरंग की वस्तु है, व्यक्तिगत धटना है इसलिए स्वभाव बन जाती हैं। करने में औपचारिकता होती है, बल प्रयोग करना होता है, मन इन्द्रियों आदि पर जबर्दस्ती करनी पड़ती है उन्हें विषयों से मोड़ना अथवा उनमें रस लेने, उनकी ओर दौड़ने और उनकी चाह करने से रोकना होता है; अत: 'होने' में स्वाभाविकता है इसमें जोर या दबाव के लिए अवकाश नहीं है। इसी को आप्तकाम कृतकृत्य अथवा गीता के शब्दों में 'स्थितप्रज्ञ' की भूमिका कहा गया है। श्वेताम्बरों में इसे प्रतिक्रमण और वैदिक विचार धारा में 'संध्या' कहा जाता है। सामायिक की अवधि ४८ मिनिट कहीं जाती है। यह एक रिकार्ड प्लेयर है उस पर कोई रिकार्ड लगाता है, कितनी स्पीड होनी चाहिए रिकार्ड की? उत्तर है जिस स्पीड का रिकार्ड हो। कहते हैं ४५ स्पीड की और ७३ स्पीड की रिकार्ड होती है। उतनी गति तो होनी ही चाहिए तभी उससे अपेक्षित ध्वनि पैदा होगी। इसी तरह सामायिक में इतना समय तो होना ही चाहिए ताकि हमारी प्रत्येक आयु में, प्रत्येक दिशा में, प्रत्येक नाड़ी में तनिक शिथिलीकरण संभव हो उसमें कुछ परिवर्तन हो, उसके साथ कुछ भावनाओं में परिवर्तन हो। उसमें कुछ सहजता का अनुभव हो। सामायिक से उठने के बाद लगे कि हाँ कुछ तब्दीली हुई है।

आज आदमी को अपने भीतर लौटने की बहुत जरूरत है और उसका समत्व की ओर आना भी जरूरी है जैन धर्म में स्व-प्रत्यावर्तन (खुद में वापसी)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का वह मौलिक विज्ञान विकसित हुआ है। श्रावकाचार में षट् आवश्यक तो हैं ही १२ व्रत भी हैं। सामायिक की प्रासंगिकता में भी कोई संदेह नहीं है। आज मनुष्य आजीवन अंदर बाहर दोनों रूपों में अशांत है, तनाव ग्रस्त है, कुण्ठा गस्त है। चारों ओर का वातावरण विषाक्त है प्रदूषित है। संघर्षमय जीवन जी रहा है आज का मनुष्य हिंसा कलह द्वेष, घृणा, क्रोध, भ्रष्टाचार, लूटपाट, चोरी डकैती, रिश्वत भाई-भाई में झगड़ा, स्वामी-सेवक में झगड़ा बड़ी ही भयानक स्थिति है आज हमारे समाज की। सबकी निगाह में शंका है, भय है, हिंसा है। ममता, प्रेम, स्नेह, सहानुभूति करुणा की नदियाँ सूख गई हैं जीवन रेगिस्तान बन गया है। विसंगतियों के व्यूह में फंसा है आदमी, विषमता में सांस लेने से दम घुट रहा है। इस सबका उपचार श्रावकाचार के नियमों में है।

जैनधर्म के श्रमण आज भी वर्ष के आठ माह भ्रमण करते हैं और श्रावकों के आचार को शुद्धि की ओर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। श्रावकाचार आचार शुद्धि की प्रक्रिया है। इसके द्वारा जीवन मूल्यों को पुर्नजीवित किया जा सकता है उनके ह्रास को रोका जा सकता है। आज मानवता, अहिंसा, अपरिग्रह का नाम ग्रंथों तक ही सीमित होता जा रहा है। हम प्रत्येक कार्य स्वार्थवश दृष्टि से करते हैं। समाज में नारी का पावन मातृत्व जैसे तिरोहित हो गया है उसे अग्निपरीक्षा, और यातनाओं से गुजरना पड़ता है सत्य जीवन से खाली है फिर मानवता कहां रही जीवन मूल्य कहां रहे? फिर मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी?

स्वसत्ता को जानना, अपने अस्तित्व का परिज्ञान प्राप्त करना ही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी, और क्रियावादी होना है यही जैन धर्म का मूलमंत्र है। शास्त्र, प्रवचन, स्वाध्याय तथा सद्गुरु की प्रेरणा से श्रावक रुचि और क्षमता के अनुसार साधना के पथ पर शनै-शनै अग्रसर होता है।

श्रावकाचार जैन होने का प्रतीक है। वस्तुत: प्रतीक मनुष्य के स्वभाव के साथ जुड़ा हुआ है इसके बिना वह जी नहीं सकता। जो संस्कृति जो जाति जितने सरल और टेड़े मेढ़े प्रतीकों को अपनाए होती है वह उतनी ही कम विकसित होती है। जिस जाति के प्रतीक विचारों के अनुसार जितने समुन्नत मनोहर और जटिल होते हैं तथा श्रमपूर्वक अनुशीलन करने से समझ में आते हैं वह जाति उतनी ही अधिक विकसित होती है। "श्रावकाचार" एक जीता जागता विज्ञान है इस शब्द का नाम लेते ही जैन प्रतीक और परिवेश स्पष्ट हो जाता है। जैन साधु अपने साथ हमेशा एक पीछी (मयूर पंख) रखते हैं। इसलिए वह पीछी प्रतीक है जैन साधु की, पर पीछी के प्रतीकार्थ की प्रतीति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतीक ग्रहीता को तभी होगी जब वह पीछी प्रतीक प्रयोक्ता के प्रयोग के मूल में छिपी पूरी जैन संस्कृति परंपरा के अहिंसा भावको समझे। पीछी प्रयोक्ता पीछी रखने के पीछे एक भाव निरंतर लिए हुए हैं कहीं उसकी चर्या में किसी छोटे से जीव की भी हत्या न हो जांय और जब तक इस भाव की परंपरा का/संस्कृति का बोध नहीं है, प्रतीक-गृहीता पीछी को निरंतर देखते रहने के बाद भी उसे एक सामान्य सी झाडू मात्र मानता रहेगा, जबकि उस अर्थ में वह कदापि सीमित है नहीं।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि संस्कृति को समझने के लिए उस संस्कृति के प्रतीक व्यवस्थाओं को समझना जितना अनिवार्य है, प्रतीक को समझने के लिए उससे संबद्ध संस्कृति के संदर्भ को समझना भी उतना ही आवश्यक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित धर्म

-डा० अशोक कुमार जैन
लाड़नूँ (राज०)

जैन आचार्यो में युग प्रधान आचार्य समन्तभद्र स्याद्वाद विद्या के प्राण प्रतिष्ठापक रहे हैं। आचार्य विद्यानन्द ने युक्त्यनुशासन टीका के अन्त में,

श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणै: ।
साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्वं समीक्ष्याखिलम् ।।

इस वाक्य के द्वारा उन्हें परीक्षेक्षण अर्थात् परीक्षा रूपी नेत्र से सबको देखने वाला कहा है। यद्यपि आचार्य समन्तभद्र में अनेक उत्तमोत्तम गुण विद्यमान थे किन्तु उन गुणों में वादित्व, गमकत्व, वाग्मित्व और कवित्व ये चार गुण तो उनमें परम प्रकर्ष को प्राप्त थे। उस समय जितने वादी (शास्त्रार्थ करने में प्रवीण) थे, गमक (दूसरे विद्वानों की रचनाओं को स्वयं समझने और दूसरों को समझाने में समर्थ) थे, वाग्मी (अपने वचन चातुर्य से दूसरों को वश में करने वाले) थे और कवि (काव्य या साहित्य की रचना करने वाले) थे। आचार्य समन्तभद्र उन सबमें चूडामणि के समान सर्वश्रेष्ठ थे । समन्तभद्र के देशाटन के सम्बन्ध में एम० एस० रामस्वामी आयंगर अपनी (Studies in south indian Jainism) नामक पुस्तक में लिखते हैं-यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र एक बहुत बड़े धर्मप्रचारक थे जिन्होंने जैन सिद्धान्तों और जैन आचारों को दूर-दूर तक विस्तार के साथ फैलाने का उद्योग किया है और जहां कही वे गये उन्हें दूसरे समप्रदायों की ओर से किसी भी विरोध का सामना नही करना पड़ा।

आचार्य समन्तभद्र ने युक्त्यनुशासन में जिनशासन को अद्वितीय कहा है।

दया-दम-त्याग समाधिनिष्ठं नय प्रमाण प्रकृतांजसार्थम् ।
अधृस्यमन्यैरखिलै: प्रवादैर्जिनं त्वदीयं मतमद्वितीयम् ।। ६ ।।

उन्होंने भगवान महावीर के तीर्थ को सर्वोदय तीर्थ की संज्ञा से विभूषित करते हुए लिखा है-

सर्वान्तवत्तदगुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ।।६।। "युक्त्यनुशासन"

हे तीर्थंकर महावीर ! आपका धर्मतीर्थ प्राणीमात्र का कल्याण करने वाला है- सर्वोदयी है। जिसमें सामान्य, विशेष, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, अस्ति-नास्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूप सभी धर्म गौण व मुख्य रूप से रहते हैं। ये सभी धर्म-धर्मी में परस्पर सापेक्ष है। अन्यथा द्रव्य में कोई धर्म या गुण रह ही नहीं पाएगा तथा वह सभी की आपत्तियों को दूर करने वाला है और किसी मिथ्या एकान्तवाद से इसका खण्डन नहीं हो सकता अतः आपका यह धर्म तीर्थ सर्वोदय तीर्थ कहलाता है। इस श्लोक से आचार्य समन्तभद्र ने जैन धर्म के व्यापक दृष्टिकोण को स्पष्ट करके प्राणी मात्र के विकास में धर्म की उपादेयता का प्रतिपादन किया हैं।

जीवन और आचार के सम्बन्ध में उनके द्वारा प्रणीत रत्नकरण्ड श्रावकाचार अद्‌भुत ग्रन्थ है। टीकाकार प्रभाचन्द्र ने इसे अरिवल सागार मार्ग को प्रकाशित करने वाला निर्मल सूर्य लिखा है। इस ग्रन्थ में केवल १५० श्लोक हैं। उपलब्ध श्रावकाचारों में प्रथम श्रावकाचार है। पुरुषार्थचतुष्टय में धर्म को आदि स्थान प्राप्त है। उससे इसकी सर्वोपरि महत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के लिए पतंजलि ने कलेवर (शरीर) की अनिवार्यता का जहां उल्लेख किया है वहां भी कलेवर से उनका अभिप्राय मानव देह अथवा मनुष्य जीवन से है। मनुष्य जीवन धर्म के लिए और धर्म मनुष्य जीवन के लिए है। आचार्य समन्तभद्र ने श्रावकों का लक्ष्य करके उस धर्म का उपदेश दिया है जो कर्मो का नाशक है और संसारी जीवों को संसार के दुःखों से निकालकर उत्तम सुखों में धारण करने वाला बतलाया है जैसा कि उन्होंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रतिज्ञावाक्य में लिखा है-

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम् ।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ।।

यहाँ समीचीन विशेषण से यह स्पष्ट संकेत किया है कि यथार्थ धर्म के द्वारा ही व्यक्ति अपने अभीष्ट मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है-

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ।।

अर्थात् वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र स्वरूप है, क्योंकि इन तीनों की एकता ही इस जीव को संसार के दुःखों से निकालकर मोक्ष के उत्तम सुख में पहुँचाती है। सम्यग्यर्शनादि के विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र ये तीनों संसार के मार्ग हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने दृष्टि की समीचीनता का सम्यक् प्रतिपादन किया है क्योंकि जैसी दृष्टि होती है वैसी ही सृष्टि होती है। जैनधर्म वीतरागता प्रधान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। वस्तु स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन सच्चे आप्त, आगम और गुरुओं द्वारा ही संभव है। आप्त को दोष रहित, सर्वज्ञ और आगम का स्वामी होना चाहिए, क्योंकि अन्य प्रकार से आप्तपना संभव नहीं है।

आचार्य समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन की महिमा का विस्तार के साथ वर्णन किया है और इसमें निम्न विशेषताओं का भी उल्लेख किया है-

१. सम्यग्दर्शन युक्त चांडाल को भी 'देव' समझना चाहिए।
२. शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भय, आशा, स्नेह तथा लोभ से कुदेवों, कुशास्त्रों और कुगुरुओं को प्रणाम तथा विनय नहीं करते।
३. ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन मुख्यतया उपासनीय है। वह मोक्षमार्ग में खेवटिया के सदृश है। उसके बिना ज्ञान तथा चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोदय उसी तरह नहीं हो पाते जिस तरह बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति।
४. निर्मोही (सम्यग्दृष्टि) गृहस्थ मोक्षमार्गी है परन्तु मोही (मिथ्यादृष्टि) मुनि मोक्षमार्गी नहीं और इसलिए मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।
५. सम्यक्दर्शन से शुद्ध हुए जीव अव्रती होने पर भी नारक, तिर्यञ्च, नपुंसक और स्त्री पर्याय को धारण नहीं करते न दुष्कुलो में जन्म लेते हैं, न विकृतांग तथा अल्पायु होते हैं और न दरिद्रता को पाते हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने कहा 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' अर्थात् धार्मिकों के बिना धर्म की क्रियाशक्ति पंगु हो जाती है। अग्नि काष्ठ के द्वारा ही व्यक्त होती है। धर्म को धार्मिक जन ही लोक व्यवहार का रूप देते है। धर्म मनुष्य की आवश्यक विशेषताओं में प्रमुख है। वह जीवन आत्मशक्ति है, उसके बिना शिव 'शव' है, अग्नि भस्म का ढेर है। धर्म संरक्षण से प्राणियों में औदार्य, सौन्दर्य और चारु चरित्र की प्रतिष्ठा होती है। धर्म त्रिकाला बाधित है, सत्य रूप है, अहिंसामय है। यह ज्ञातव्य दर्शनीय तथा आचरणीय है। धर्म नौका पर आरूढ़ होकर भवार्णव को लॉघने वाला डूबता नहीं। संसार के सभी संश्लेषण जन्य सुख प्रतीतिमान भोगों का परिणाम दुःखमय है। उनकी प्राप्ति से जितना हर्ष होता है, उतना ही उनके वियोग से शोक भी होता है। धर्म आत्मदृष्टि देता है और उससे मनुष्य को प्राप्ति और नाश का हर्ष-विषाद नहीं होता क्योंकि दोनों ही वास्तव में मिथ्या हैं। धर्म शान्ति कवच है। धर्म आत्मज्ञान का संबल है। परलोकयात्रा का पाथेय है और धर्मराज (कर्म) के बहीखाते में लिखने योग्य श्रेष्ठ वित्त (पूँजी) धर्म ही है। प्रबुद्ध चिन्तक साहित्यकार जैनेन्द्र ने लिखा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है "सच्चा धर्म वही है जिसमें अन्तश्चेतना और आन्तरिक आह्लाद बढ़ता हुआ मालूम हो। जिसमें चित्त सिकुड़ता हो वह अधर्म है।" इस प्रकार हमें धर्म के मार्ग पर चलने वालों को सतत प्रोत्साहित करते हुए स्वयं भी उस मार्ग पर चलने का सतत प्रयास करना चाहिए। सम्यग्दर्शन के वात्सल्य गुण के अन्तर्गत वर्णन करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है –

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ।।

अर्थात् अपने सहधर्मी बन्धुओं के समूह में रहने वाले लोगों के प्रति सद्भावों सहित और माया से रहित उनकी योग्यता के अनुसार आदर सत्कार करना वात्सल्य गुण कहा जाता है। सहधर्मियों के प्रति प्रेमभाव का होना आवश्यक है।

आचार्य समन्तभद्र ने धर्म के नाम पर हो रही अधार्मिक क्रियाओं जैसे नदी और समुद्र में स्नान करना, बालू और पर्वतों के ढेर लगाकर स्तूप बनवाना, हिमालय आदि पर्वतों से भृगुपात करना अर्थात् उनकी ऊँची-ऊँची चोटियाँ से गिरकर आत्मघात करना और पति के मर जाने पर सती बनने के लिए जीवित ही अग्नि मे प्रवेश करना इत्यादि कार्यों को लोकमूढ़ता कहा है। इससे उनकी इस दृष्टि का परिज्ञान होता है कि वे लोगों को यथार्थ धर्म की ओर रुचि जाग्रत करना चाहते थे क्योंकि धर्म के प्रति श्रद्धा कल्याणकारी है परन्तु अन्धश्रद्धा लोगों को दिग्भ्रमित कराकर यथार्थ मार्ग से बहुत दूर करती है। सतीप्रथा जैसी ज्वलन्त समस्या को आचार्य समन्तभद्र ने हजारों वर्ष पहले अधार्मिक बतलाकर इस कुरीति का निरसन किया था।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में धर्म की विविध परिभाषायें वर्णित हैं–

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ।।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार चारित्तं खलु धम्मो अर्थात् चरित्र ही ध र्म है। आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है–

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञान: ।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधु: ।।

मोहरूपी अंधकार के दूर होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा भव्य जीव रागद्वेष की निर्वृति के लिए चारित्र को प्राप्त होता है। यहाँ आचार्य समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति का क्रम तथा चारित्र धारण करने का प्रयोजन उत्तम रीति से प्रकट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किया है। यहाँ स्पष्ट है कि जिसमें राग द्वेष दूर हो जाते है वह सम्यक् चारित्र को अनायास ही प्राप्त हो जाता है। रागद्वेष की निर्वृत्ति होने से हिंसादि पापों से निर्वृत्ति स्वयमेव हो जाती है क्योंकि जिसे किसी प्रयोजन रूप फल की प्राप्ति अभिलषित नहीं है ऐसा कौन पुरुष राजाओं की सेवा करता है? अर्थात् कोई नहीं।

चारित्र मनुष्य की स्वसम्पत्ति है। सम्यग्ज्ञानी जीव ही पाँच पापों से निर्वृत्ति रूप चारित्र को अंगीकार करता है। वह चारित्र सकल और विकल चारित्र के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से सम्पूर्ण चारित्र समस्त परिग्रहों से रहित मुनियों के और एकदेश चारित्र परिग्रह युक्त गृहस्थों के होता है। गृहस्थों का विकल चारित्र अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप होता हुआ तीन प्रकार का है। श्रावकों के आठ मूलगुणों का सर्वप्रथम उल्लेख समन्तभद्र स्वामी का है जिसमें उन्होने मद्य त्याग, मांस त्याग, मधु त्याग और अहिंसा आदि पांच अणुव्रतों को सम्मिलित किया है। पंचाध्यायी ग्रन्थ में कहा गया है-

तत्रमूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
क्वचिदव्रतिनां यस्माद् सर्वसाधारणा इमे ।। ७२३।।
निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणा: स्फुटम् ।
तद्विना न व्रतं यावत् सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ।। ७२४ ।।
एतावता विनाप्येष श्रावको नास्त नामत: ।
किं पुन: पाक्षिको गूढ: नैष्ठिक: साधकोऽथवा ।। ७२५ ।।
मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपंचक: ।
नामत: श्रावक: ख्यातो नान्यथापि तथा गृही।। ७२६ ।।

अर्थात् अष्ट मूलगुणों का पालन करने वाला ही जैनधर्म की देशना का पात्र होता है। यही नहीं गृहस्थ की संज्ञा भी इस मनुष्य को तभी प्राप्त होती है जब वह आठ मूलगुणों का पालन करता है।

चारित्र नीर की निर्मल धारा है आत्मा के गहन प्रदेशों को इसी से शीतलता मिलती है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में व्यक्ति को जीवन जीने की कला का सम्यक् निरूपण किया गया है। यदि जीवन को सार्थक करना है तो संयम धारण कर सल्लेखनापूर्वक मरण करने का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए। छोटे-छोटे से लिए गए व्रत या संकल्प व्यक्ति की दशा और दिशा को सुधारने में सहायक बन सकते हैं। समस्त प्राणियों में सन्तोष का कारण होने से धर्म को अमृत कहा जाता है। उपवास करने वाला व्यक्ति यदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म का विशेष रास्ता नहीं तो वह बड़ी उत्सुकतापूर्वक दूसरे विशिष्ट ज्ञानीजनों के मुख से धर्मोपदेश सुनावे इसके अतिरिक्त आलस्य को जीतता हुआ स्वयं ज्ञान और ध्यान में तत्पर रहे। स्वाध्याय में लीन रहता हुआ अनित्य, अशरण संसार, एकत्व, अन्यत्व आदि १२ भावनाओं के चिन्तन में दत्तचित्त रहे अथवा आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चार धर्मध्यानों में तत्पर रहे। आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है–

पापमराति धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समयं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुवं भवति ।। ५/२७ ।।

अर्थात् पाप ही जीव का शत्रु है और धर्म ही जीव का हितकारी है इस प्रकार निश्चय करता हुआ वह श्रावक यदि आगम को जानता है तो वह निश्चय से श्रेयोज्ञाता अथवा कल्याण का ज्ञाता होता है। ज्ञान से चारित्र की शोभा है और चारित्र से ज्ञान की शोभा है इसलिए श्रावक को ज्ञान की वृद्धि करने के लिए आगम का ज्ञाता होना चाहिए। जिसने अपनी आत्मा को निर्दोष ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी रत्नों का करण्डक-पिटारा बनाया है अर्थात् अपनी आत्मा में इन तीनों को प्रकट किया है उसे तीनों लोकों में समस्त अर्थों की सिद्धि प्राप्त होती है।

इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र ने समीचीन धर्म का प्रतिपादन कर भव्यों के लिए सुख का मार्ग प्रशस्त कराया है। यदि उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म का परिपालन करे तो व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र का परिपूर्ण विकास हो सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक्त्व और चारित्र : किसका कितना महत्व

-पं० शिवचरण लाल जैन
मैनपुरी

प्रत्येक संसारी जीव चतुर्गति के दु:खों से संतप्त है। दु:ख से सम्पूर्णरीत्या छूटना मोक्ष है। यह जन्म, मरण, भ्रमण तथा कर्म से रहित अवस्था है जिसके प्राप्त हो जाने से पुन: संसार दु:ख की भयावह स्थिति सदैव के लिए समाप्त हो जाती है। मोक्ष का उपाय रत्नत्रय अर्थात् यथार्थ विश्वास रूप सम्यग्दर्शन (Right Belief) यथार्थ ज्ञान (Right Knowledge) सम्यग्ज्ञान तथा यथार्थ आचरण रूप सम्यक् चारित्र (Right Conduct) है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धर्म संज्ञा है। यही जीव को संसार के दु:खों से छुड़ाकर स्वर्ग और मोक्ष के उत्तम सुख में स्थापित करता है। इसके विपरीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र दु:खमय संसार के कारण हैं। (रत्नकरण्ड २-३)

सम्यग्दर्शन–आगम का आलोडन करने से ज्ञात होता है कि विभिन्न अनुयोगों की दृष्टि से सम्यग्दर्शन के निम्न लक्षणों को स्वीकृति प्राप्त है–

१. परमार्थ आप्त, आगम और तपस्वी अर्थात् सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की तीन मूढ़ता रहित तथा आठ अंग सहित श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। (रत्नकरण्ड–४)

२.तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं। जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वों अथवा पुण्य-पाप संयुक्त कर नव पदार्थो का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। (तत्वार्थ सूत्र १-२) एवं (समयसार–१३)

३.आत्मा और पर का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

४. मात्र आत्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसे आत्म साक्षात्कार भी उल्लिखित किया गया है।

५.दर्शन मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृतियों तथा चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय होने से प्रकट होने वाली आत्मविशुद्धि रूप श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

प्रथम लक्षण चरणानुयोग (रत्नकरण्ड आदि) की दृष्टि से मान्य है। प्राथमिक जीवों के लिए परमौषधि है। मध्य के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ लक्षणों की द्रव्यानुयोग सम्मत सोपान शृंखला से आरोहण करता हुआ जीव अंतिम पांचवे लक्षण से लक्ष्य सम्यग्दर्शन अर्थात् करणानुयोग सम्मत नियामक स्थिति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को प्राप्त कर मुक्ति का अवश्यम्भावी पात्र बन जाता है। सार्वदृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि यथार्थ रूप में अन्य लक्षण भी समाविष्ट हैं। देव-शास्त्र-गुरु तीनों या इनमें से एक का यथार्थ श्रद्धान हो जावे तो सभी सम्यक्त्व लक्षण प्रकट हो जायेंगे। आ० कुन्दकुन्द ने कहा भी है–

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।

(आ० कुंदकुंद प्रवचनसार–८०)

अत: वर्णित सम्यक् लक्षणावली से श्रद्धेय सम्यग्दर्शन के स्वरूप को समझकर यह निर्धारण करना चाहिए कि सम्यग्दर्शन का आत्महित हेतु बहुत महत्व है।

सम्यग्दर्शन का महत्व

आ० समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यक्त्व की महिमा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि सम्यक्त्व के समान अन्य श्रेयस्कर नहीं है। चाण्डाल शरीर की भी सम्यग्दर्शन सहित स्थिति में दिव्यता होती है। सम्यग्दृष्टि जीव जन्मान्तर में नारकी, तिर्यंच, स्त्री, नपुंसक, दुष्कुली, विकलांग और अल्पायु एवं दरिद्रता को प्राप्त नहीं होता भले ही वह अव्रती ही क्यों न हो। ज्ञान-आचरण की उत्पत्ति, वृद्धि और फलोदय बिना सम्यक्त्व के नहीं होते जैसे कि बिना बीज के वृक्ष नहीं होता। सम्यग्दर्शन का मूल्य ज्ञान और चारित्र से अधिक है एवं मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन कर्णधार (खेवटिया) कहा गया है। यहाँ सर्वत्र सम्यग्दृष्टि को जिन-भक्त के रूप में स्वीकार किया गया है। वह सम्यक्त्व के प्रभाव से अणिमा आदि आठ ऋद्धियों से युक्त, प्रकृष्ट रूप से शोभायमान देवगति में देवों और अप्सराओं के मध्य चिरकाल तक सुख-विलास करता है। सम्यग्दृष्टि जीव भवान्तर में ओज, तेज, विद्या, वैभव, बल, यश, विजय से युक्त तथा महान कुली, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला सर्वश्रेष्ठ मानव होता है। यह सम्यक्त्व की ही महिमा है। दर्शन की शरण प्राप्त करके जीव शिव, अजर, अरुज, अक्षय, अव्याबाध, शोकरहित, भयरहित और पराकाष्ठा को प्राप्त निर्मल ज्ञान, सुख, बल-वैभव स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। वह संसार के श्रेष्ठ प्रोन्नत पद चक्रवर्ती एवं तीर्थंकर पद को धारण कर मोक्ष प्राप्त करता है। कहा भी है–

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं
राजेन्द्र-चक्रमवनीन्द्र शिरोऽर्चनीयम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैतिभव्य: ।। (रत्नकरण्ड–४)

जिस दृष्टि से सम्यग्दर्शन से सम्पन्न गृहस्थ भी सम्यग्दर्शन रहित मोही मुनि की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्णित किया गया है (रत्न–३३) उस कारण से भी सम्यग्दर्शन का अधिक महत्व है। पुरुषार्थसिद्धि में आ० अमृतचन्द्र जी ने सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति का उपदेश दिया है–

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन्सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च।। (२१)

चरणानुयोग में सम्यक्त्व का लक्षण गृहीत मिथ्यात्व के त्याग अर्थात् कुदेव–कुशास्त्र एवं कुगुरु के त्याग की अपेक्षा वर्णित है एवं द्रव्यानुयोग में अगृहीत अनादिकालीन सहज उद्भूत पर पदार्थों में आत्मबुद्धि के त्याग की अपेक्षा व्याख्यायित है। दोनों ही प्रकार के मिथ्यात्व में त्याग रूप सम्यक्त्व का महत्व है। इन्हें व्यवहार सम्यग्दर्शन व निश्चय सम्यग्दर्शन की संज्ञा देकर आचार्यो ने साध्य–साधन के रूप में मान्यता दी है।पंचास्तिकाय टीका (१०६-१०७) में आ० अमृतचन्द्र जी ने व्यवहार सम्यग्दर्शन को निश्चय दर्शन का बीज कहा है। प्राथमिक जीवों को निश्चय के श्रद्धान युक्त व्यवहार ही शरण होता है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग में पर्याप्त महत्व निर्दिष्ट किया गया है। अनेक रूपों में इसकी मान्यता है। इसकी भावना के प्रभाव से ही जीव मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खण्ड (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति) कर देता है। यही कारण है कि एक बार सम्यक्त्व प्राप्त होने पर यदि वह छूट भी जाता है तो पुन: अर्द्ध–पुद्गल परावर्तन काल की अवधि में प्राप्त कर चारित्र परिणत होकर मोक्ष सिद्धि कर लेता है।

सम्यक्चारित्र–विभिन्न अनुयोगों की दृष्टि से चारित्र के लक्षण भी भिन्न–भिन्न ज्ञात होते हैं। सम्यक् शब्द आचरण की समीचीनता, यथार्थता अथवा सम्यक्त्व की सहितता का द्योतक है। चारित्र के कतिपय निम्न लक्षण दृष्टव्य हैं :

(१) पाप से विरक्ति का नाम चारित्र है। यथा,

क –हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरति: संज्ञस्य चारित्रं।। (रत्नकरण्ड–४९)

ख –हिंसादि निवृत्तिलक्षणं चारित्रम्।
(रत्नकरण्ड टीका–४७ आ० प्रभाचन्द्र)

ये लक्षण चरणानुयोग सम्मत हैं। प्रथमानुयोग में सामान्य एवं सरलतम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छोटे-छोटे व्रत नियम को चारित्र कहा गया है। प्रथमानुयोग में भी उपरोक्त पाप-निवृत्ति को भी चारित्र कहा गया है।

(२) "स्वरूपे चरणं चारित्रं।" (समयसार आत्मख्याति टीका आ० अमृतचन्द्र)

आत्मा का आत्मा में विचरण करना ही चारित्र है। यथा,

"अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइठ्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिह चारित्तमग्गो त्ति ।।" (कुन्दकुन्द)

(३) मोह और क्षोभ से रहित परिणाम ही सम है, वही चारित्र है, वही धर्म है।

"चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिठ्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।। (प्रवचनसार-७)

(४) ज्ञायक भाव के तीन भेद करते हुए आत्मख्याति में आ० अमृतचन्द्र ने रागद्वेष को परिहरण करने वाली समर्थ ज्ञानप्रवृत्ति को चारित्र कहा है।

(५) बृहद्द्रव्यसंग्रह में चारित्र के निश्चय एवं व्यवहार रूपों को व्याख्यायित किया गया है। निश्चय चारित्र का स्वरूप उपरोक्त प्रकार है। व्यवहार चारित्र का वर्णन करते हुए आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं :-

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिस्वं ववहारणयादु जिण भणियं।।

(द्रव्यसंग्रह-४५)

अशुभसे निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र जानो। यह व्रत-समिति-गुप्ति रूप है। ऐसा व्यवहार नय से जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

(६) चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम अथवा क्षय से प्रकट होने वाली आत्म-विशुद्धि का नाम चारित्र है। अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ कुल बारह एवं नौ नोकषाय कुल २१ प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय यहाँ अभीष्ट है। (गोम्मटसार) यह करणानुयोग सम्मत लक्षण है। उपरोक्त प्रथमानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग सापेक्ष लक्षण साधन हैं और तीसरा अंतिम करणानुयोग सम्मत लक्षण साध्य हैं। यह चारित्र-स्थिति का नियामक लक्षण है। द्रव्यानुयोग सम्मत लक्षण को साधनता एवं साध्यता दोनों रूपों में जानना चाहिए।

सम्यक्चारित्र का महत्व-आ० कुन्दकुन्द ने चारित्र को ही धर्म कहा है। एवं उसे दंसणमूलो कहकर सम्यक्पन प्रदान किया है। उन्होंने कहा है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नग्नता, निर्ग्रन्थता, समस्त प्रकार परिग्रह त्याग रूप अहिंसा ही मोक्षमार्ग है। इसके बिना तीर्थंकरत्व होने पर भी सिद्धि नहीं होती। देखिए,

णविसिज्झइ वत्थधरो जिणसासने जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो य मोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।। (सूत्रपाहुड–२३)

चारित्र कसौटी है, परीक्षा है ज्ञान व श्रद्धान की। जो ज्ञान, श्रद्धान चारित्र रूपी फल के रूप में प्रकट नहीं होता, वह व्यर्थ ही है। आ० समन्तभद्र रत्नकरण्ड में कहते हैं,

पापमरातिधर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति।। (१४८)

पाप जीव का शत्रु है धर्म (पाप से विपरीत, रत्नकरण्ड के अनुसार पुण्य रूप, व्रत रूप) बन्धु है यह निश्चय करने वाला, ग्रहण योग्य चुनने वाला यदि आगम को जानता है तो वह ज्ञाता श्रेयस्कर है, प्रशंसनीय है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान की शोभा चारित्र से, संयम से है। आ० समन्तभद्र ने पांच अणुव्रतों में प्रसिद्ध पुरुषों के नाम का उल्लेख करते हुए थोड़े से त्याग की भी महती प्रशंसा की है तथा अणुव्रतों से इस लोक में अतिशय प्रतिष्ठा व परम्परा स्वर्ग एवं निर्वाण सुख की प्राप्ति का उद्घोष किया है,

पंचाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकं।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते।। (९३)
मातंगो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च संप्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम्।। (९४)

उन्होंने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में पंच पापों की महती निन्दा की है एवं सदैव पापों से बचने की विस्तृत रूप से प्रेरणा की है!

अर्हन्त भगवान् की दिव्य-ध्वनि को द्वादशांग में गूंथने वाले गगधर प्रभु ने सर्वप्रथम आचारांग को रखा है तथा श्रावक के चारित्र का निरूपक उपासका-ध्ययन भी अर्द्ध द्वादशांग के पश्चात् प्रथम स्थान पर रखा गया है। इससे सिद्ध होता है कि चारित्र की महिमा सर्वोपरि है। सम्यक्दर्शन एवं ज्ञान, सम्यक्चारित्र के लिए है दर्शन ज्ञान गायक हैं चारित्र गेय है। रागद्वेष की निवृत्ति अर्थात् वीतरागता चारित्र से प्रकट होती है। कहा भी है,

मोह तिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्त संज्ञानः।
रागद्वेष निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।। रत्नकरण्ड–४७

मोहान्धकार दूर होने तथा सम्यक्त्व एवं ज्ञान प्राप्ति होने पर साधु अर्थात्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समीचीन ज्ञानी रागद्वेष निवृत्ति हेतु चारित्र अंगीकार करता है।

संवर के कारणों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार प्रातः स्मरणीय आ० उमास्वामी कहते हैं,

"स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षा परीषहजयचारित्रैः।" (९-१)

अर्थात् संवर (आश्रव निरोध) गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है। ये सभी कारण आचरण रूप हैं। इससे निर्जरा भी होती है। केवल सम्यग्दर्शन प्राप्ति से सिद्धि नहीं होती। कर्मक्षय हेतु तप-संयम-चारित्र ही अनिवार्य रूप से (साक्षात् रूप से) आवश्यक हैं, करण हैं, नियामक कारण हैं। सम्यग्दर्शन तो चारित्र को दिशा देता है। मोक्षमार्ग त्रितयात्मक है,

"सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्गः"। (तत्वार्थ-१)

"सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः"। (रत्नकरण्ड-३)

चारित्र को अन्त में रखने से ज्ञात होता है कि सम्यक्त्व से पहले भी चारित्र की उपयोगिता है तथा बाद में भी। चारित्र होने पर ही मोक्षमार्ग की सफलता है। सम्यक्त्व प्राप्ति हेतु भी सम्यक्त्वचरण चारित्र (अष्टांग एवं पचीस दोष निवृत्ति रूप चारित्र) की आवश्यकता कुन्दकुन्द स्वामी ने चारित्रपाहुड़ में उद्घोषित की है। संयमचरण चारित्र तो सम्यक्त्वचरण का भूषण है, उपादेय है। चरित्र, संयम की महिमा का मान अव्रत सम्यग्दृष्टि इन्द्र आदिक सभी करते हैं। मनुष्य पर्याय में संभव होने से उसकी प्राप्ति हेतु छटपटाते हैं।

किसका कितना महत्व ? इस प्रश्न का उत्तर सापेक्ष दृष्टि में निहित है। जो जीव गृहीत मिथ्यात्व (कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु) की भूमिका में हैं उनके लिए सम्यक्त्व का अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का अत्यधिक महत्व है। पुनश्च यथार्थ तत्वज्ञान की स्थिरता के लिए सम्यक्त्व के अष्टांग निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य एवं प्रभावना रूप तथा २५ दोषों के परिहार स्वरूप सम्यक्त्वचरण चारित्र की नितान्त आवश्यकता है क्योंकि अंगहीन सम्यक्त्व संसार-परम्परा को नष्ट नहीं कर सकता। देखिये,

नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसंततिं।
नहि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्।। (रत्नकरण्ड-२१)

ज्ञातव्य है कि मिथ्यात्व, अनीति एवं अभक्ष्य त्याग रूप चारित्र की आवश्यकता तथा सप्तव्यसन त्याग रुप चारित्र की महत्ता सम्यक्त्वोत्पत्ति एवं स्थिति हेतु अनिवार्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकतारूप है। दर्शन और चारित्र तराजू के दो पलड़ों कें समान हैं तथा मध्यवर्ती ज्ञान कांटे की भाँति दोनों का नियन्त्रक है। दोनों पलड़ों का महत्व समान है। एवंविध दर्शन और चारित्र का महत्व भी समान रूप से है। परिस्थिति अथवा अपेक्षावश मूल्यांकन में न्यूनाधिकता संभव है। यहाँ भी गौणता एवं मुख्यता का दृष्टिकोण धारणीय है। जैसे जिस समय प्रथम पलड़े पर मापक (बांट) रखे हुए हैं तथा दूसरे पर उससे कम भार की वस्तु है तो पहले को भारी (अधिक महत्ता वाला) माना जाता है किन्तु अन्य समय में यदि वस्तु का भार अधिक हो जाता है तो वह भारी माना जाता है तथा वस्तु मापक के बराबर रखी जाती है तो सही तौल (समीचीनता) का निर्णय होता है। इसी प्रकार दर्शन एवं चारित्र दोनों का महत्व एवं आदर हमें समान रूप से करना चाहिए। ज्ञान रूपी कांटे का कार्य सम्यक्त्व एवं चारित्र रूपी पलड़ों को समान रूप से तौलना है।

चारित्र नौका के समान है। तैरना तो नौका को ही होगा लेकिन खेवटिया भी चाहिए। उसी प्रकार संसार-समुद्र से तिरना तो चारित्र से ही होगा। अकेले कर्णधार दर्शन का कोई प्रयोजन नहीं। सम्यग्दर्शन जन्मभूमि के समान हैं तथा चारित्र जननी के समान है। मोक्षतत्व रूपी पुत्र को चारित्र रूपी जननी ही जन्म देती है। हाँ परम्परा रूप से दर्शन रूपी जन्मभूमि भी नियामक कारण है। आ० कुन्दकुन्द ने "दंसण मूलो धम्मो" एवं "चारित्तं खलु धम्मो" कहकर दर्शन को धर्म-मूल तथा चारित्र को साक्षात् धर्म कहा है। अर्थात् सम्यग्दर्शन महल की नींव के सदृश है एवं चारित्र साक्षात् महल है। यदि कोई अज्ञानी बिना नींव के महल बनावेगा तो वह टिकाऊ नहीं होगा तथा यदि मात्र नींव को ही महल मान लेगा तो आश्रय विहीन एवं निरर्थक ही होगा। स्पष्ट है कि सम्यक्त्व का अस्तित्व चारित्र के लिए है। वृक्ष की स्थिति में जो सम्बन्ध बीज और फल का है वही सम्यक्त्व और चारित्र के मध्य में है। दूसरे के अस्तित्व में ये परस्पर पूरक हैं।

निश्चयनय की दृष्टि में तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एक हैं, एक ज्ञायक भाव की तीन परिणतियाँ हैं। जो ज्ञान है, वही दर्शन है, वही चारित्र है। अंशी आत्मा के सभी अंशों का समान (अर्पित-अनर्पित दृष्टि से) महत्व है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार चारित्र प्रधान ग्रन्थ है ही किन्तु इसमें सम्यग्दर्शन के महत्व को जो १४ श्लोकों में वर्णित किया गया है तथा उसे चारित्र से भी अधिमान दिया गया है उसका मूल कारण यह है कि बिना सम्यग्दर्शन के चारित्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को सम्यक् संज्ञा नहीं दी जा सकती। वह अज्ञान चारित्र ही है। मात्र चारित्र के भार को ही वहन करने से भी कल्याण नहीं है। अत: चारित्र को यथार्थ तत्व श्रद्धान पूर्वक ही धारण करना चाहिए। बिना श्रद्धान-ज्ञान के तो कोल्हू के बैल जैसा उसी एक स्थिति में ही भ्रमण रहता है आगे सही दिशा में गमन संभव नहीं है।

यहाँ एक और बात का उल्लेख करना चाहूँगा कि कतिपय जन सम्यग्दर्शन को ही स्वानुभूति एवं शुद्धात्मानुभूति मान लेते हैं सो यह भ्रम है क्योंकि सम्यग्दर्शन तो दर्शनमोहनीय की तीन एवं अनन्तानुबन्धी की चार इन सात प्रकृतियों के अनुदय में प्रकट होने वाला श्रद्धागुण का परिणमन है जबकि स्वानुभूति स्वानुभूत्यावरण नाम से कहे जाने वाले मतिज्ञानावरण के अवान्तर भेद के क्षयोपशम से होने वाला क्षायोपशमिक ज्ञान है, दोनों ही पृथक्-पृथक् गुण हैं। यह ठीक है कि स्वात्मानुभूति सम्यक्त्व के होने पर ही होती है किन्तु करणानुयोग में व्याख्यायित गुणस्थान क्रम से ही होगी। **गोम्मटसार** में चतुर्थ गुणस्थानवर्ती का लक्षण देखकर अपनी अव्रत दशा में ही सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए। स्वात्मानुभूति की सामर्थ्य वहाँ लब्धिरूप में, मात्र श्रद्धा रूप में, अव्यक्त रूप में रहती है, उपयोग रूप में नहीं । पंचम गुणस्थान में वह प्रकट होती है वह भी चारित्र के बल से। करना क्या है यह **आ० पूज्यपाद** के शब्दों में देखिए,

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायण: ।
परात्मज्ञानसम्पन्न: स्वयमेव परो भवेत् ।। (समाधिशतक-८६)

अव्रती सम्यक् प्रकार व्रत ग्रहण कर ज्ञान-तत्पर होकर निज-पर के भेद ज्ञान से युक्त रूप में स्वयं उत्कृष्ट परमात्मा हो जाता है। यहाँ आचार्य ने चारित्र की उपादेयता का उपदेश किया है। इससे पूर्व के श्लोक में पापों को छोड़कर व्रतों में निष्ठावान होने को कहा है।

सम्यग्दर्शन सूक्ष्म एवं अन्तरंग विषय है। उसकी बाह्य पहिचान नियामक नहीं है। किन्तु चारित्र तो स्वयमेव पर में सर्वत: परिलक्षित होता है, प्रभावना का विशेष कारण है। तीर्थ की प्रवृत्ति तीर्थंकर प्रभु के द्वारा चारित्र के प्रभाव से ही होती है। यह सबके कल्याण का कारण होने से सर्वोदय तीर्थ कहलाता है। संयम की महिमा त्रिभुवन में व्याप्त हो जाती है। जैन धर्म और सर्वादय तीर्थ का मूल संयम ही है। ज्ञान-श्रद्धान एवं क्रिया-चारित्र की सापेक्षता ही अभीष्ट है। रत्नत्रय के सभी अंगों का पर्याप्त महत्व है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय विस्तार के भय से आलेख को संकुचित करते हुए आवश्यक समझकर आगम के कतिपय स्थलों को उद्धृत कर रहा हूँ। पाठकों को अवश्य दृष्टव्य हैं।

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षः।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य।।

(प्र० अध्याय-२-१२, तत्त्वप्रदीपिका टीका)

अर्थ-द्रव्यानुयोग के अनुसार चरणानुयोग है एवं चरणानुयोग का अनुसारी द्रव्यानुयोग है यदि परस्पर में वे निरपेक्ष हैं तो दोनों मिथ्या हैं। अतः मुमुक्षु मोक्षमार्ग में चाहे द्रव्यानुयोग की प्रमुखता से अथवा चरणानुयोग की प्रमुखता से आरोहण करे। गौण-मुख्य कल्पना ठीक है निषेध या किसी के अवमूल्यन की नहीं।

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः
चरणस्य सिद्धौ द्रव्यस्य सिद्धिः।
बुध्वेतिकर्माविरतापरेऽपि
द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु।। (प्रवचनसार-३/१ अध्याय-३/१)

द्रव्य की सिद्धि में चरण की सिद्धि है और चरण की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है। यह जानकर प्रवृत्ति दशा में द्रव्य के अविरुद्ध आचरण करो। यहाँ पर आचरण का उपदेश है। श्रद्धान-ज्ञान की समीचीनता अभीष्ट है ही।

एवं पणमिय सिद्धे जिणवर वसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं जइ इच्छदि दुक्ख परिमोक्खं।।

(प्रवचनसार-२०१)

अर्थ-यदि दुःखों से मुक्त होना चाहते हो तो पूर्वोक्त प्रकार से सिद्धों को, अर्हन्तों को और श्रमणों को बार-बार नमस्कार कर श्रामण्य अंगीकार करो। २८ मूलगुण रूप चारित्र ग्रहण करो।

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तं।।

(आत्मानुशासन-१५, आ० गुणभद्र)

शम (कषायों का उपशम), ज्ञान, चारित्र और तप (बिना सम्यक्त्व के) पाषाण के भारवत् हैं और पुरुष के वे ही यदि सम्यक्त्व सहित हैं तो मणि के समान पूज्य हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जह तारायणसहियं ससहरबिम्बं खमण्डले विमले।
भाइय तह वय विमलं जिणलिंगं दंसण विसुद्धं।।
(भावपाहुड़–१४४)

जैसे निर्मल आकाश में तारागण सहित चन्द्रमा का बिम्ब शोभित होता है, वैसे ही व्रतों से निर्मल तथा सम्यग्दर्शन से शुद्ध जिनलिंग (निर्ग्रन्थ नगन मुनिवेश) शोभित होता है।

सम्मत्त चरण सुद्धा संजमचरणस्स जइ वि सुपसिद्धा।
णासी अमूढदिठ्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं।। (चारित्र पाहुड़–९)

जो ज्ञानी अमूढ़दृष्टि सम्यक्त्वचरण से शुद्ध होते हैं यदि वे चारित्र से भी अच्छी तरह शुद्ध हों तो शीघ्र ही निर्वाण को पाते हैं। अकेले सम्यग्दृष्टि होने से नहीं।

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री–
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः।।
(समयसार कलश) (स्याद्वाद अधिकार–२१)

स्याद्वाद की कुशलता और सुनिश्चल संयम-चारित्र के द्वारा जो निरन्तर संलग्न होकर अपनी आत्मा का ध्यान करता है तथा ज्ञान (सम्यक्त्व सहित) और क्रियानय की मित्रता ने जिसे पात्र बना दिया है, ऐसा एकमात्र (विरला) जीव ही समयसार रूप (तृतीय) भूमिका का आरोहण करता है।

तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व और चारित्र परस्पर पूरक हैं। तभी दोनों का महत्व है। सिक्का कभी एक पहलू का नहीं हो सकता। इसी प्रकार इनका सद्भाव है।

मेरठ का यह पंचकल्याणक भी सम्यक्त्व और चारित्र का संगम है। परम पूज्य आचार्यकल्प उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज इसके मध्य शोभायमान हैं। जिनेन्द्र के साथ उनके इन चारित्रान्वित नन्दन को मेरा शत- शत वन्दन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अखण्ड शान्ति का स्रोत: अपरिग्रह

–डॉ० श्रेयांस कुमार जैन
बड़ौत

अपरिग्रह का प्रतिपक्षी परिग्रह होता है। सामान्यतया धन सम्पत्ति को परिग्रह कहा जाता है किन्तु वास्तव में आसक्ति का नाम परिग्रह है। महत्त्व भाव के कारण वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक संग्रह करना परिग्रह है। "परि समन्तात् मोह बुद्ध्या यो गृह्यते स: परिग्रह:" अर्थात् मोहबुद्धि के द्वारा जिसे चारों ओर से ग्रहण किया जाता है, वह परिग्रह है। यह परिग्रह इच्छा संग्रह और मूर्च्छारूप है। अनधिकृत साधन सामग्री को पाने की अभिलाषा करने का नाम इच्छा रूप परिग्रह है। वर्तमान में प्राप्त होने वाली वस्तुओं का संग्रह/ग्रहण कर लेना संग्रह रूप परिग्रह कहा गया है और संगृहीत वस्तुओं पर ममत्वभाव और आसक्तिभाव मूर्च्छारूप परिग्रह है। आचार्य प्रवर शिवार्य ने कहा है कि जो मूर्च्छा है, वह परिग्रह जानना चाहिए। मोह के उदय से उत्पन्न परिणाम को मूर्च्छा कहते हैं। आचार्य उमास्वामी भी इसी मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं[1]। परिग्रह ही सबसे बड़ा पाप है। परिग्रह पिशाच से ग्रसित मानव सर्व पाप प्रवृत्ति वाला होता है। परिग्रह हिंसा आदि को जन्म देने वाला है। आत्म विकास के लिए बाधक तत्त्व है। उससे आत्म विकास की दिशा अवरुद्ध हो जाती है। परिग्रह रूपी भूत के सवार होने पर राष्ट्र, जाति, सम्प्रदाय आदि के विषय में विचार नहीं करता और न धर्म-अधर्म या पुण्य-पाप का ही कोई विचार करता है। जैसे नीतिकार कहते हैं- "बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्" भूखे आदमी को कुछ भी नहीं सुहाता उसी प्रकार जो परिग्रह का भूखा है, धन का पिपासु है उसे कुछ भी नहीं अच्छा लगता वह विवेक खो बैठता है जैसा कि भर्तृहरि ने भी कहा है-'जाति चाहे रसातल में चली जाए, समस्त गुण चाहे रसातल से भी नीचे चले जायें, शील पहाड़ से गिरकर चूर चूर हो जाय, स्वजन स्नेही चाहे आग में जल जायें, वैरिणी वीरता पर शीघ्र ही वज्र गिर पड़े, तो कोई आपत्ति नहीं, हमें तो केवल धन चाहिए। हमारा धन सुरक्षित रहे, वह नष्ट न हो क्योंकि उस एक धन के बिना मनुष्य के सम्पूर्ण ही गुण तिनके के समान व्यर्थ है।'[2]

परिग्रह ही हिंसा, असत्य, चोरी और कुशील पापों का आस्रव द्वार है। यदि परिग्रह पाप न हो तो चारों ही पापों से छुटकारा मिल सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिग्रह अन्तरंग और बाह्य दो भेद रूप होता है। अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार का है-मिथ्यात्व, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुसंक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ। बाह्य परिग्रह दस प्रकार का है-क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयनासन, कुप्य (वस्त्र) और भाण्ड (पात्र) इस प्रकार अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रहों के चौबीस भेद हैं[३]।

यहां विचारणीय है कि तत्त्वार्थ सूत्रकार ने बाह्य परिग्रह के नौ भेदों के नाम का उल्लेख किया है[४]। पूज्यपाद और अकलंक ने भी नौ भेद बताये हैं हरिभद्री आवश्यक (श्वेताम्बर ग्रन्थ) में भाण्ड का उल्लेख नहीं है। नौ ही भेद हैं। मूलाराधना में द्विपद चतुष्पद का उल्लेख है किन्तु तत्वार्थ सूत्रकार ने दासी दास का ग्रहण किया है। मूलाराधना में भाण्ड (कुंकुम, कर्पूर, मिरच, हिंग्वादिक) को पृथक् रूप से ग्रहण किया है। सूत्रकार ने हिरण्य सुवर्ण का पृथक् रूप से लिया है। आचार्य शिवार्य इन्हें धन परिग्रह में ही गर्भित करतें हैं। सूत्रकार ने यान और आसन को छोड़ा है जबकि शिवार्य ने ग्रहण किया है।

इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि मूलाचार और भगवती आराधना का बाह्य परिग्रह का वर्णन तत्त्वार्थ सूत्र, सवार्थ सिद्धि, तत्त्वार्थ वार्तिक आदि ग्रन्थों में नहीं पाया जाता है यह भिन्नता किस स्रोत से आयी इस पर विचार अपेक्षित है। हाँ भगवती आराधना की रचना में उल्लिखित बाह्य परिग्रह के भेद श्वेताम्बर साहित्य में प्रायः समान पाये जाते हैं। जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण के अनुसार दश भेद इस प्रकार हैं-क्षेत्र वास्तु, धन धान्य, संचय (तृण काष्ठ आदि) मित्र ज्ञाति संयोग (परिवार) यान (वाहन) शयनासन (पलंग पीठ आदि) दासी दास और कुप्य[५]।

कहीं द्विपद चतुष्पद को एक गिनकर, दासीदास को अलग स्वीकार किया है और कहीं धातु-चांदी तांबा पीतल आदि को धन में ग्रहण किया और कहीं हिरण्य स्वर्ण पृथक् गृहीत हैं। आचार्य वट्टकेर अजीवाश्रित को बाह्य और जीवाश्रित को अन्तरंग परिग्रह के रूप में वर्णित करते है।

अन्तरंग परिग्रह के भेदों का दिगम्बर शास्त्रों में समान कथन है। श्वेताम्बर साहित्य में अन्तरंग परिग्रह के मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग ये पांच कारणों को बतलाते हुए भेद-प्रभेद की चर्चा में मिथ्यात्व, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति अरति, शोक, भय जुगुप्सा और वेद इन चौदह को अन्तरंग परिग्रह कहा है[६]। दिगम्बर परम्परा में प्रायः वेद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के तीन भेदों को ग्रहण किया है और राग द्वेष को अन्तरंग परिग्रह में नहीं परिगृहीत किया है[७]। उक्त दोनों प्रकार के परिग्रह के विषय में दोनों सम्प्रदाय के ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन है जो विस्तारभय से प्रकृत में अनुपयुक्त हैं। भगवती सूत्र में परिग्रह के तीन भेद बताये हैं–

१. कर्म परिग्रह–राग द्वेष के वशीभूत होकर अष्ट प्रकार के कर्मों को ग्रहण करना।

२. शरीर परिग्रह–विश्व में जितने भी जीव हैं वे शरीरधारी हैं।

३. बाह्य भाण्डमात्र परिग्रह–बाह्य वस्तु और पदार्थ।

वस्तुतः इन तीनों प्रकार के परिग्रहों को प्रकारान्तर से अन्तरंग बहिरंग में ही ग्रहण किया गया है। दिगम्बराचार्यों ने वैराग्य प्रसंगों में इनका विशेष वर्णन किया है।

दोनों प्रकार के परिग्रह के कारण ही मानव सदैव चिन्तित आंतकित, त्रस्त एवं भयभीत रहता है। दूसरों के हृदय को आघात इसी के निमित्त पहुँचाता है। आचार्यों ने समस्त पापों की उत्पत्ति स्थान परिग्रह को बताया है। संसार में जितने भी निकृष्ट कार्य होते हैं वे सभी परिग्रह के निमित्त ही होते हैं। आचार्य उमास्वामी ने स्पष्ट कहा है कि बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायु के कारण हैं[८] परिग्रह संचय के काल में हिंसा आदि क्रूर कार्यों में निरन्तर प्रवृत्ति होती है। इन्द्रियों के विषयों में तीव्र आसक्ति तथा कृष्णलेश्या और रौद्रध्यान के परिणाम हो जाते हैं जिनसे उस काल में आयु कर्म के बंध के अपकर्ष काल आने पर निश्चित रूप से नरकायु का ही बंध होगा। नरकायु के बंध होने पर उसके दुःखों को निश्चित ही भोगना पड़ेगा, अतः मानवों को परिग्रह का पूर्ण या आंशिक तथा शक्ति रूप त्याग अवश्य करना चाहिए। यह तभी होगा जब मूर्च्छा कम होगी। मूर्च्छाभाव तभी घट सकेगा जब इच्छाओं पर नियंत्रण होगा इच्छाओं पर नियंत्रण हेतु ही गृहस्थों के लिए समन्तभद्राचार्य ने बताया है–धन–धान्य आदि ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह को मर्यादित करके उससे अधिक वस्तु के संग्रह के विषय में निष्पृह वृत्ति को धारण करना परिमित परिग्रह व्रत है। इसे इच्छा परिमाण नाम से भी कहा है[९]।

यह इच्छा परिमाण व्रत मानव के लिए आत्म विकास हेतु उपादेयभूत है। इससे सुख शान्ति की अभिवृद्धि होती है।

मानव की इच्छाएं अनन्त हैं। इच्छाओं की पूर्ति इच्छारूपी अग्नि की अभिवृद्धि में घृत का कार्य करती है। तृष्णारूपी विषबेल को अत्यधिक रूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से बढ़ाती है। इच्छाओं के आधिक्य से ही मनुष्य को दु:खों के सागर में निमग्न होना पड़ता है। अत: इच्छाओं के रोकने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना आवश्यक है। इच्छाओं के उपशमन का सबसे श्रेष्ठ उपाय इच्छा परिणाम अथवा इच्छा नियन्त्रण है। इच्छाओं पर नियंत्रण सभी के लिए संभव नहीं है तथापि सामर्थ्यानुसार अभ्यास करने पर सफलता अवश्य मिलती है। साधारण लोग इच्छाओं का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते किन्तु उन्हें परिमित तो कर ही सकते हैं।

मनुष्य को उतना ही रखना या संग्रह करना चाहिए, जितना उसको एवं उसके आश्रितों के लिए अनिवार्य हो। अनावश्यक संग्रहवृत्ति ही विषमता का कारण बनती है। राष्ट्र एवं समाज में बढ़ती हुई विद्वेष भावना, संघर्ष गरीबी छल/कपट माया वर्गभेद चोर बाजारी मुनाफाखोरी पूंजीवाद आदि के लिए मुख्य रूप से संग्रह की प्रवृत्ति ही कारण है। मानव जब तक अपनी संग्रह की इच्छाओं पर अंकुश नहीं लगायेगा, तब तक न तो देश में सुख/शान्ति होगी और न मानव मन में। मानव को मूर्च्छाभाव संचयवृत्ति और इच्छाओं की तीव्रता पर निश्चित रूप से नियंत्रण करना चाहिए। इन पर नियंत्रण से ही अपरिग्रह व्रंत को अंगीकार किया जा सकता है।

अपरिग्रह की महिमा का शब्दों में वर्णन संभव नहीं है। यह शान्ति का अखण्ड स्रोत है। अपरिग्रह अथवा अनासक्ति भाव या सन्तोष सुख का भण्डार है। इस व्रत का एक देश ग्रहण गृहस्थ/श्रावक करता है और सर्व देश पालन करने वाला श्रमण होता है। यह व्रत श्रावक की अपेक्षा अणुव्रत है और श्रमण की अपेक्षा महाव्रत। संयम साधना के प्रशस्त पथ पर अग्रसर श्रावक और श्रमण दोनों की दृष्टि में इसकी महिमा अतुलनीय है। दोनों को अपनी अपनी शक्ति पूर्वक इसकी परिपालना करना होती है। अपरिग्रह के अभाव में सभी साधनाएं व्यर्थ होती हैं। आध्यात्मिक साधना के विकास में अपरिग्रह का शीर्षस्थ स्थान है।

अपरिग्रह वृत्ति सभी प्रकार की तृष्णाओं का उपशमन करा देती है। लोभ कषाय के वशीभूत होकर प्राणी धन संग्रह से तृप्त नहीं होता उसे अपरिग्रह वृत्ति क्षणमात्र में तृप्त कराने वाली है आचार्य समन्तभद्र स्वामी अनन्तनाथ भगवान की स्तुति में कहते हैं-"हे आर्य, अपने महान् श्रम रूप जल से परिपूर्ण तथा भय रूप तरङ्ग राशि संकुल अपनी विषय लालसा रूप नदी को अपरिग्रह रूप ग्रीष्मकालीन सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से सुखा दिया। अतएव आपका तेज उत्कृष्ट कान्ति युक्त है। तृष्णा रूपी नदी में जो अपरिग्रह रूपी जल है, वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महान् श्रम से पूर्ण है। परिग्रह के होने पर भय की वृद्धि होती है। इससे उसे भयरूपी तरङ्ग मालाओं से परिपूर्ण कहा है। तृष्णा रोग का उपाय अपरिग्रह वृत्ति ही है[१०]।

अपरिग्रही साधक किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं रखता है। हां जो पीछी कमण्डलु साथ में होते हैं वे एक मात्र संयम की रक्षा के लिए होते हैं। उनके प्रति मुनि/साधु के मन में किसी भी प्रकार की आसक्ति नहीं होती। उन वस्तुओं के लेने और रखने में पूर्ण सावधानी बरतते हैं। आसक्ति तो बिलकुल ही नहीं रखते। न तो पदार्थ के प्रति और न शरीर के प्रति किञ्चित् भी ममता अपरिग्रह महाव्रती के होती है।

जिसके पास आसक्ति है, उसके लिए समस्त संसार ही परिग्रह है।

जैनाचार्यों ने इस परिग्रह पिशाच के भयावह परिणामों को सूक्ष्मदृष्टि से देखा/समझा था इसीलिए उन्होंने इस संज्ञा के विशेष निमित्तों पर भी विचार किया है। आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं–"परिग्रह के साधनों का दर्शन करने से, उनका चिन्तन करने से, परिग्रह के प्रति मूर्च्छाभाव वाले व्यक्तियों के सतत सामीप्य से तथा लोभ कषाय की उदीरणा होने से परिग्रह संज्ञा (परिग्रह विषयक अभिलाषा) उत्पन्न होती हं।

संसार में समस्त अनर्थों की जड़ यह परिग्रह ही है परिग्रह का मूलोच्छेद ही सुख का कारण है। जीवमात्र की रक्षा का साधन भी परिग्रह का अभाव ही है। जैन धर्म का मूल सिद्धान्त ही अपरिग्रह है। अपरिग्रहवाद की चरम प्रतिष्ठा श्री समन्तभद्राचार्य ने गुंजित की है–

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं–
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थयुभयं–
भवानेवात्याक्षन्ति च विकृतवेषोपाधिरत:।। स्वयंभू स्त्रोत्र।।

प्राणियों का घात न कर उनकी रक्षा का अभय देना जगत् विख्यात परम ब्रह्म है, वह अहिंसा उस साधुवर्ग में कैसे बन सकती है, जहां अणुमात्र भी परिग्रह है। अत: हे नेमिनाथ परम करुणा निधान आपने ही उस परम ब्रह्म स्वरूप अहिंसा की सिद्धि हेतु बाह्याभ्यन्तर दोनों परिग्रहों का त्याग किया है और विकृतवेष परिग्रह में आसक्त नहीं हुए जो विकृतवेष और परिग्रह में रत रहे फलस्वरूप वे परम ब्रह्म की सिद्धि से वंचित रहे।

इस प्रकार आचार्यों के कथनों से स्पष्ट है कि अपरिग्रह का सिद्धान्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही आत्मा में अखण्ड शान्ति प्रदान कराने वाला है। अपरिग्रहवाद मूलक सिद्धान्त है। इसके पालन से ही चरम लक्ष्य की सिद्धि होती है। स्व-पर सुखदायक अपरिग्रहव्रत ही है। तृष्णा, मूर्च्छा ममत्त्व व आसक्ति को नियंत्रित करने के लिए अपरिग्रह व्रत धारण/पालन आवश्यक है। इसके पालन के प्रमुख दो उद्देश्य हैं-प्रथम आत्म विकास और द्वितीय सामाजिक व्यवस्था। संग्रह की अधिकता से आत्म चेतना दब जाती है। आत्मोत्थान रुक जाता है और स्वयं अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओं के संग्रह कर लेने पर दूसरे प्राणियों को उस वस्तु के अभाव में कष्ट भोगना पड़ते है। समाज में विषमता और अव्यवस्था उत्पन्न होती है। इस प्रकार की आत्मोत्थान में बाधक और समाज में विषमता उत्पादक परिग्रह के अभाव को करने वाला अखण्ड शान्ति का स्रोत अपरिग्रह अनन्त सुख दायक जयवंत रहे।

संदर्भ

१. 'मूर्च्छा परिग्रह' त०सूत्र अ० ७ सू० १७

२. जातिर्यातु रसातलं, गुणगणस्तत्राऽप्यधो गच्छता
च्छीलं शैलतटात्पतत्वभिजन: संदह्यतां बह्निना।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु न: केवलम्।
येनैकेन बिना गुणास्तृणलवप्राया: समस्ता इमे।। नीतिशतक

३. मूलाचार ५/२१०-२११ भगवती आराधना ११२५-११२६

४. क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणतिक्रमा: । त. ७/२९

५. मूलाराधना, १९६६

६. बृहत्कल्पभाष्य

७. जीवणिवद्धाऽबद्धा परिग्गहा जीवसंभवाचेव।
तेसिं सक्कच्चागो इयरम्हिय णिम्मयोऽसंगो।। मूलाचार ९

८. क-प्रश्न व्याकरण पृ० ७६३ (सम्मति ज्ञानपीठ प्रकाशन)
ख-कोहो माणो माया, लोभो पेज्जं तहेव दोसो अ।
मिच्छत्र वेद अरइ, रइ हासो सोगो भय दुगुंछा ।। बृहतकल्पभाष्य ८३१
ग-मिच्छत्त वेद-रागा हासादि यथा होंति छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चोद्दसं अब्भंतरा ।। प्रतिक्रमणत्रयी १०१७१

९. मिच्छभं वेदरागा तहेव हासादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भन्तरागंथा।। भगवती आराधना-११२५

१०. बृहत्स्वंयभू स्त्रोत्र-६८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्ज्ञान में चार अनुयोगों की उपयोगिता

–(डॉ०) जयकुमार जैन
मुजफ्फरनगर

अनुयोग शब्द अनु उपसर्ग पूर्वक युज् धातु से घञ् प्रत्यय का निष्पन्न रूप है, जिसका अर्थ प्रश्न , पृच्छा, परीक्षा,धार्मिक चिन्तन, अध्यापन या शिक्षण आदि है।[१] इन अर्थो को ध्यान मे रखते हुए दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं का साहित्य विषय की दृष्टि से चार भागों में वर्गीकृत किया गया है– प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। समग्र जैन साहित्य का विभाज़न करते हुए पुराण, चरित आदि आख्यान ग्रन्थों को प्रथमानुयोग में गर्भित किया गया है। करणानुयोग में कथित करण शब्द द्व्यर्थक है। यह जीव के परिणामों और गणित के सूत्रों का वाचक है। अत: इस अनुयोग के साहित्य के अन्तर्गत जीव और कर्म के सम्बन्ध आदि का निरूपण करने वाले कर्म सिद्धान्त विषयक ग्रन्थ और और खगोल, भूगोल एवं गणित का विवेचन करने वाले ग्रन्थ आते है। आचार सम्बन्धी समग्र साहित्य का अन्तर्भाव चरणानुयोग के अन्तर्गत किया गया है तथा द्रव्य, गुण, पर्याय, आदि वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक ग्रन्थ द्रव्यानुयोग मे अन्तर्भूत हैं। यहाँ यह कथ्य है कि दिगम्बर परम्परा मे जिसे प्रथमानुयोग कहा गया है, श्वेताम्बर परम्परा मे उसका उल्लेख धर्मकथानुयोग नाम से हुआ है और दिगम्बर परम्परा में जिसे करणानुयोग संज्ञा दी गई है, श्वेताम्बर परम्परा में उसका अभिधान गणितानुयोग है। इस प्रकार विषय की दृष्टि से जैन साहित्य चार भागों में विभक्त है।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यह अनुयोग का विभाजन आर्यरक्षित सूरि ने भविष्य में होने वाले अल्पबुद्धि शिष्यों को ध्यान में रखकर किया था। इस परम्परा के अनुसार अन्तिम दशपूर्वों के ज्ञाता आर्यवज्र हुए। इनका स्वर्गाधिरोहण वि०स०. १४४ (८७ ई०) में हुआ था इनके बाद आर्यरक्षित सूरि हुए। इन्होंने श्वेताम्बर परम्परा में स्वीकृत समग्र साहित्य को चार अनुयोगों में विभाजित किया। ग्यारह अंगों (दृष्टिवाद को छोड़कर) का समावेश चरणानुयोग में, ऋषिभाषितों का अन्तर्भाव धर्मकथानुयोग में, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों का समावेश गणितानुयोग में किया तथा दृष्टिवाद नामक एक अंग को द्रव्यानुयोग में रखा इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा चार अनुयोगों का विभाजन ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण में मानती है।[२] दिगम्बर परम्परा में इस प्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का कोई स्पष्ट उल्लेख हो—ऐसा मेरी जानकारी में नहीं है। द्रव्यसंग्रह की टीका में चारों अनुयोगों के लक्षणों का उल्लेख करते हुए चार अनुयोग रूप से चार प्रकार का श्रुतज्ञान कहा है।[३] श्रुतज्ञान दो प्रकार का है—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। ये चारों अनुयोग मोक्षमार्ग में दीपक के समान हैं तथा द्रव्यश्रुत के वर्गीकरण रूप हैं। यह सुविदित तथ्य है कि द्रव्यश्रुत ही भावश्रुत के लिए कारण बनता है तथा भावश्रुत केवलज्ञान का बीजभूत है।' अतएव श्रुतज्ञान की उपासना का फल केवलज्ञान की प्राप्ति और तज्जन्य मुक्ति ही है। जिनेन्द्र भगवान् के मुखकमल से नि:सृत पूर्वापर विरोध हीन वचनों को आगम या श्रुत कहते हैं। चारों अनुयोग द्रव्यश्रुत रूप हैं, अत: सम्यग्ज्ञान में उनकी उपयोगिता असंदिग्ध है। समाधिभक्ति में **'प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नम:'** कहकर[४] चारों की समवेत महत्ता स्वीकार की गई है। जहाँ कहीं किसी एक अनुयोग को महत्वपूर्ण कहा गया है, वहाँ सापेक्ष कथन है। अत: जैन साहित्य के अध्येताओं एवं अनुसन्धित्सिओं को अनुयोग व्यवस्था ध्यान में रखकर क्रमश: अध्ययन करना अपेक्षित है तथा परम्परा से शास्त्रों का अर्थ करना अपेक्षित है। अन्यथा उनके द्वारा शास्त्र के अर्थ का अनर्थ करके वह शस्त्र बन सकता है। कहा भी गया है—

> **'शास्त्राग्नौ मणिवद् भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृत: ।**
> **अंगारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ।।'**[५]

अर्थात् इस शास्त्र रूपी अग्नि में तपकर भव्य जीव मणि के समान विशुद्ध होकर सुशोभित होता है और दुष्ट व्यक्ति अंगार के समान दीप्त होता है अथवा कालिमा या राख बन जाता है।

(१) प्रथमानुयोग— भावश्रुतज्ञान के आधारभूत द्रव्यश्रुत के प्रथम भेद प्रथमानुयोग का लक्षण समन्तभद्राचार्य ने लिखा है—

> **'प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।**
> **बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोध: समीचीन: ।।'**[६]

अर्थात् जो सम्यग्ज्ञान या श्रुतज्ञान चरित एवं पुराणों को जानता है, उस पुण्यवर्धक, बोधि एवं समाधि के निधान को प्रथमानुयोग कहा गया है। यह प्रथमा- नुयोग परमार्थ का निरूपक है। इस श्लोक में प्रयुक्त अर्थाख्यान, पुण्य और बोधि समाधिनिधान पदों के हार्द को स्पष्ट करते हुए टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य

---

* 'विणयेन सुदमधीदं जदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं ।
तमु अवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि ।।' — मूलाचार गाथा 285.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहते हैं कि यह प्रथमानुयोग परमार्थ विषय का प्रतिपादन करने वाला होने से अर्थाख्यान तथा पुण्य का हेतु होने से पुण्य कहा गया है। अप्राप्त रत्नत्रय की प्राप्ति रूप बोधि तथा प्राप्त रत्नत्रय की पूर्णता रूप समाधि अथवा धर्म्य एवं शुक्ल ध्यान रूप समाधि को प्राप्त कराने वाला होने से प्रथमानुयोग को बोधि समाधि का निधान कहा गया है।

प्रथम शब्द के दो अर्थ हैं– प्रधान और प्रारंभिक। प्रथमानुयोग में ये दोनों ही अर्थ अभीष्ट हैं। अत: यह श्रुतज्ञान (जिनवाणी) का एक प्रधान अंग है, अत: प्रथमानुयोग कहा गया है तथा यह प्रथम अवस्था (मिथ्यात्व गुणस्थान) के जीवों के लिए भी महान् उपकारी है, अत: प्रथमानुयोग कहा गया है। जिनसेनाचार्य के अनुसार इस अनुयोग में पाँच हजार पद हैं तथा इसमें तिरेसठ शलाका पुरुषों के पुराण का वर्णन है।[७] सभी भारतीय दार्शनिकों ने वस्तु के प्रामाण्य के ज्ञान के लिए भी प्रमाण की आवश्यकता मानी है, भले ही किसी ने उसे स्वत:, किसी ने परत: अथवा किसी ने स्वत: एवं परत: दोनों को सापेक्ष स्वीकार किया हो। तीर्थंकरों की प्रामाणिकता एवं सर्वज्ञता में किसी को मतभेद है ही नही, किन्तु तीर्थंकरों की एवं उनकी वाणी की प्राथमिकता का ज्ञान प्रथमानुयोग के बिना नहीं हो सकता हैं। क्योंकि, तीर्थंकरों का चरित, काल एवं उनका उपदेश आदि प्रथमानुयोग में ही वर्णित है।

आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ एवं परमावगाढ ये दश रुचि के भेद से सम्यक्त्व के भेद कहे गये हैं।[८] दश प्रकार के इन भेदों में एक उपदेश नामक सम्यग्दर्शन भी है। तीर्थंकर बलदेव आदि शुभचारित्र के उपदेश को सुनकर जो सम्यग्दर्शन धारण किया जाता है, वह उपदेश सम्यग्दर्शन है।[९] यह उपदेश सम्यग्दर्शन प्रथमानुयोग के बिना संभव नहीं हैं। इसी प्रकार जातिस्मरण आदि के निमित्त से उत्पन्न सम्यक्त्व के उदाहरण भी प्रथमानुयोग से जाने जाते है। अत: सम्यग्ज्ञान में प्रथमानुयोग की अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

द्वादशांग में बारहवें अंग के परिकर्म, सूत्र प्रथमानुयोग, पूर्वगत एवं चूलिका ये पांच भेद कहे गये हैं। इनमें प्रथमानुयोग का मध्य में कथन मध्यमणि न्याय से प्रमुखता का प्रतिपादक है। सम्यग्दर्शन होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती है, अपितु तीर्थंकर सदृश महापुरुषों को भी तपश्चरण करना पड़ता है। यह बात प्रथमानुयोग से ही ज्ञात होती है। आदिपुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण आदि प्रथमानुयोग के ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पुण्य एवं पाप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के फलस्वरूप किस प्रकार लोगों को सुख एवं कष्ट की प्राप्ति हुई। इन उदाहरणों से लोगों की पाप से भीति तथा पुण्य से प्रीति होने लगती है, अतः प्रथमानुयोग की सम्यग्ज्ञान में महती उपयोगिता है। प्रथमानुयोग को सभी अनुयोगों में प्रमुख इसलिए माना गया है, क्योंकि इसमें अन्य अनुयोगों का विषय भी आ जाता है, इसे आबाल वृद्ध सभी समझ सकते है, यह मिथ्यात्व छुड़ाने का साधन है, इससे पाप से अरुचि तथा धर्म में रुचि होती है तथा यह रत्नत्रय की पूर्णता में साधक बनता है। जिस प्रकार पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म का प्रथम स्थान है, उसी प्रकार अनुयोगचतुष्टय में प्रथमानुयोग का प्रमुख स्थान है।

(२) करणानुयोग-- जो श्रुतज्ञान लोक-अलोक के विभाग को, युग के परिवर्तन को तथा चतुर्गति के परिवर्तन को दर्पण के समान जानता है, उसे करणानुयोग कहते है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है-

'लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ।।'[१०]

इस श्लोक का भाव स्पष्ट करते हुए सुप्रसिद्ध टीकाकार पं० सदासुखदास काशलीवाल ने लिखा है- "जामें षट्द्रव्य का समुदाय रूप तो लोक, अर केवल आकाश द्रव्य ही सो अलोक, अपने गुणपर्यायनि सहित प्रतिबिम्बित होय रहे हैं। अर छहू काल के निमित्ततैं जैसे जीवपुद्गलनि की परिणति है ते प्रतिबिम्ब रूप होय जामैं झलकैं हैं, अर जामैं चार गतिनि का स्वरूप प्रकट दिखै है, सो दर्पणसमान करणानुयोग है, तिनै यथावत् सम्यग्ज्ञान ही जाने है।" जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि करण शब्द परिणाम विशेष एवं गणित सूत्रों का वाचक है। अतएव इस अनुयोग का विषय गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास आदि के आश्रयभूत जीव के परिणाम विशेष भी हैं। और लोक आदि के विस्तार को निकालने के लिए गणित सूत्र भी है। कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम की चर्चा भी इसी अनुयोग में होती है। षट्खण्डागम, गोम्मटसार जीवकाण्ड, त्रिलोकसार, त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ इसी अनुयोग के हैं।

करणानुयोग के ग्रन्थों में स्वाध्यायी लोकालोक का वर्णन पढ़कर यह जान लेता है कि मुक्ति कर्म भूमि से ही मिल सकती है, पंच परावर्तन के ज्ञान से वह संसार से भयभीत होने लगता है, जीवो की जाति, कुल, योनि, जीव समास, मार्गणा आदि को समझकर अहिंसा व्रत की रक्षा कर सकता है तथा गुणस्थानों को जानकर अपनी भूमिका जान लेता है। इस अनुयोग से भव्य जीव यह जान लेता है पंचलब्धियों में क्षायोपशिमिक, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लब्धियाँ तो सामान्य हैं, भव्याभव्य उभय को प्राप्त हो जाती है, किन्तु करण लब्धियाँ भव्य जीव को ही प्राप्त होती हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाले करणों-भावों को करण लब्धि कहते हैं। इस प्रकार करणानुयोग भी प्रथमानुयोग के समान सम्यक्त्व का कारण है। अत: सम्यग्ज्ञान में इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

(३) चरणानुयोग—श्रावक और श्रमण के चारित्र की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, उसमें वृद्धि किस प्रकार होती है तथा उस चारित्र की रक्षा किस प्रकार की जाती है, इन बातों के निरूपक शास्त्रों को चरणानुयोग शास्त्र कहते हैं। रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा गया है–

'गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् ।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ।।'[११]

उपासकाध्ययन, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, मूलाचार, भगवती आराधना आदि ग्रन्थ चरणानुयोग के अन्तर्गत आते हैं। चारित्र के बिना ज्ञान परमावधि, सर्वावधि, मन:पर्यय तथा केवलपने को प्राप्त नहीं हो सकता है तथा चरणानुयोग के बिना चारित्र का स्वरूप एवं महत्त्व जानना संभव नही है। अतएव सम्यग्ज्ञान में चरणानुयोग का अतिशय महत्त्व है। पंचम काल में हीन संहनन होने से चारित्र का अधिक महत्त्व बतलाया गया है। देवसेनाचार्य ने कहा है–

वरिससहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण ।
तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणे ।।'[१२]

अर्थात् उस शरीर से (चतुर्थकाल में उत्तम संहनन से) एक हजार वर्ष के चारित्र से जो कर्म नष्ट होता था, वह हीन संहनन वाले पंचम काल में एक वर्ष में निर्जरा को प्राप्त हो जाता है। चारित्र की पूज्यता सर्वत्र स्वीकृत है तथा गृहस्थ ज्ञानी होने पर भी पूजार्ह नहीं माना गया है अत: हमें चारित्र धारण करने तथा उसका पालन करने के लिए चरणानुयोग के अध्ययन का प्रयास करना चाहिए। यह भी सम्यग्ज्ञान का एक भेद है।

(४) द्रव्यानुयोग—जिस अनुयोग में पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य, सप्तत्त्व और नवपदार्थ आदि का विस्तार से वर्णन होता है, उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। समन्तभद्राचार्य ने कहा है–

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीप: श्रुतविद्यालोकमातनुते ।।[१३]

अर्थात् द्रव्यानुयोग रूपी दीपक जीव-अजीव तत्त्वों को, पुण्य-पाप को तथा बन्ध और मोक्ष को श्रुतज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित करता है। समयसार,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, द्रव्यसंग्रह आदि शास्त्र इसी अनुयोग के अन्तर्गत आते हैं।

जब तक जीव को अपने से भिन्न अर्जीव द्रव्य का ज्ञान नही होगा तब तक उसे आत्मा के एकत्व एवं विभक्तत्व की प्रतीति नही हो सकती है। इसी प्रकार पुण्य-पाप एवं बन्ध-मोक्ष के ज्ञान के अभाव में जीव बन्ध से बचने का उपाय नही करेगा, फलत: मोक्ष भी नही होगा। अतएव सम्यग्ज्ञान में द्रव्यानुयोग का माहात्म्य सर्वविदित है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि चारों अनुयोगों की सम्यग्ज्ञान में परस्पर पूरक उपयोगिता है। जो जीव प्रथमानुयोग से महापुरूषों का आदर्श जीवन अपनाता है, करणानुयोग जानकर संसार से भयभीत हो जाता है, चरणानुयोग में प्रतिपादित चारित्र को धारण करता है तथा द्रव्यानुयोग के अनुसार आत्मस्वरूप का ध्यान करता है, वही द्रव्यश्रुत के साध्य भावश्रुत को पाता है और परिणाम रूप में मुक्तिरमा का वरण करता है। चारों ही अनुयोग उपयोगी हैं तथा चारों की ही सापेक्ष मुख्यता-गौणता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में मोक्षमार्ग की दृष्टि से द्रव्यानुयोग की प्रधानता का कथन करते हुए कहा गया है- **'मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो तहाँ ही है।'**[१४] वही चारों अनुयोगों की पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से समन्विति दिखाई गई है। प्रथमानुयोग को सरागी जीवों को बतासा युक्त औषध, करणानुयोग को उपयोग की निर्मलता में कारण, चरणानुयोग को संयम धारण करने में सहायक तथा द्रव्यानुयोग को मोक्षमार्ग का मूल उपदेशक कहकर चारों की उपयोगिता का प्रतिपादन किया गया है। चरणानुयोग की सापेक्षता का कथन करते हुए संयम को निष्प्रयोजन भूत कहने वालों को करारा जबाव देते हुए कहा गया है कि **'बहुरि जो बाह्यसंयम तैं किछू सिद्धि न होय तौ सर्वार्थ सिद्धि के वासी देव सम्यग्दृष्टि बहुत ज्ञानी तिनिकैं तो चौथा गुणस्थान होय अर गृहस्थ श्रावक मनुष्य के पंचम गुणस्थान होय सो कारण कहा। बहुरि तीर्थंकरादि गृहस्थ पद छांड़ि काहेकौं संयम ग्रहैं।'**[१५] अत: चारों अनुयोग जैनागम के चार स्तम्भ हैं। इन अनुयोगों में विभिन्न दृष्टिकोणों से चर्चा की जाती है। किसी भी अनुयोग को निष्प्रयोजनभूत कहना सम्यग्ज्ञान या श्रुतज्ञान के एक चौथाई हिस्से को व्यर्थ कहने के समान है, जो किसी भी दृष्टि से समीचीन नहीं कहा जा सकता है।

सन्दर्भ

१. *संस्कृत हिन्दी कोश-वामन शिवराम आप्टे*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. द्र०- जैन साहित्य का इतिहास भाग - १ (पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री) पृ० ४.
३. द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा ४२ (इत्युक्तलक्षणानुयोगचतुष्टयरूपेण चतुर्विधं श्रुतज्ञानं-ज्ञातव्यम्)
४. क्रियाकलाप, समाधिभक्ति. पृ० २९७
५. आत्मानुशासन, श्लोक १७६
६. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४३
७. हरिवंशपुराण १०/७१
८. 'आज्ञामार्गोपदेशसूत्रबीजसंक्षेपविस्तारार्थावगाढ़परमावगाढरुचिभेदात् ।'
- राजवार्तिक ३/३६
९. 'तीर्थंकरबलदेवादिशुभचरितोपदेशहेतुकश्रद्धाना उपदेश रु चयः ।'
- वही, ३/३६
१०. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४४
११. वही, श्लोक ४५
१२. भावसंग्रह
१३. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४६
१४. मोक्षमार्गप्रकाशक, अष्टम अधिकार पृ० १५
१५. वही पृ० १४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सल्लेखना: मृत्यु का मंगल महोत्सव

—प्राचार्य निहाल चन्द जैन

बीना

जीवन एक सेतु है, जन्म व मृत्यु जिसके दो छोर हैं। यह झूठा भ्रम (False illusion) न जाने कब से पलता आ रहा है कि मृत्यु, जन्म का विपरीत है। प्रकाश का अस्तित्व अंधकार से है। नये सृजन के लिए पुराने का विसर्जन अनिवार्य है। जब भी जीवन पाया गया, मृत्यु के आँचल से पाया गया। जीवन में यदि कोई निश्चित और असंदिग्ध है तो वह मृत्यु है-जीना तो मात्र एक अवसर है। **"जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च"** (गीता) जो उत्पन्न हुआ उसकी मृत्यु निश्चित है, और जिसकी मृत्यु हो गयी, उसका जन्म सुनिश्चित है। मृत्यु की अनिवार्यता-जन्म की गोद में पलती है।

जो संसार में केवल आहार-विहार के लिए जीवित हैं तथा जो संसार के नश्वर उपादानों में अमरत्व की कल्पना किये बैठे हैं, उन्हें मृत्यु-भयकारक है, लेकिन जिनका जीवन दर्शन तपोमय है, व्रत उपवास एवं संयम-नियम के कलशारोहण से जिनका जीवन मंदिर सुशोभित है मृत्यु उनके लिए आनंद की स्रोतस्विनी है। उनके लिए-सल्लेखना मृत्यु के मूल्य पर अमृत प्राप्त करने का सोपान है। वस्तुत: सल्लेखना "मृत्यु की कला" सिखाती हैं। जब कोई मृत्यु को गले लगा लेता है, तो मृत्यु हार जाती है, क्योंकि मृत्यु को गले लगाने वाला-"मृत्यञ्जय" हो जाता है।

मरणोपरान्त-अज्ञात के गर्भ में समाहित है अत: अज्ञानी या मूढ़-दृष्टि, इस अज्ञात के लिए भयभीत नहीं है, भय तो ज्ञात के छूट जाने का है। उसका वर्तमान-"आसक्ति" और मोह की डोर" से बंधा है, वह उससे दूर नहीं होना चाहता। आसक्ति जितनी गहरी होती है, मृत्यु का भय उतना ही गहरा हो जाता है। यही कारण है कि जब कोई धनपति मरता है-तो उसकी अतृप्त-आकांक्षायें आँसू ला देती हैं लेकिन रत्नत्रयधारी श्रावक या मुनि सल्लेखना पूर्वक-मृत्यु का वरण करता है तो उसका संसार सिमटकर सात या आठ भवों का रह जाता है।

सल्लेखना क्या है ?

सल्लेखना-सत् +लेखना, इन दो शब्दों की संधि से बना है। सत् का अर्थ है "सम्यूक" और लेखना का अर्थ है "कृश करना" अर्थात् बाह्य शरीर और आभ्यन्तर कषाओं को पूरी चैतन्यता (Awareness) के साथ क्षीण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना" सल्लेखना है। आ० पूज्यपाद स्वामी ने सल्लेखना को " सम्यक् काय कषाय लेखना, कायस्य बाह्याभ्यन्तराणां कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यक् लेखना-"सल्लेखना" के रूप में निरूपित किया अर्थात् बाह्य सल्लेखना काय की और आभ्यन्तर सल्लेखना कषाओं की करते हुए-इनको पुष्ट करने वाले सभी साधनों/कारणों को कम करते जाना-सल्लेखना है क्योंकि कषाओं का लेखन किये बिना मात्र-कायलेखन करना निष्फल है।

आ० समन्तभद्र ने "रत्नकरण्ड श्रावकाचार" में सल्लेखना को "भक्त प्रत्याख्यान आदि" पूर्वक धर्मकी रक्षा के लिए शरीर का परित्याग करने की विधि को कहा है।

उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः (१२२)

एक दिगम्बर मुनि की सारे जीवन की तपश्चर्या का सुफल समाधिमरण होता है। समाधिमरण ही सच्ची सल्लेखना है। समाधिमरण का वर्णन भले ही रमणीय या हृदय-ग्राही लग सकता है ठीक वैसे जैसे कि-"युद्धस्य वार्ता रम्या"। लेकिन यह बज्र के चने हैं जिन्हें दृढ़ संकल्पों के सुमेरुओं से ही दला जा सकता है। निराकुलभाव से "समाधिमरण" को पूर्ण करना, जीवन की सम्पूर्ण साधना को सफल बनाना है। जैसे विद्यार्थी परिश्रम पूर्वक वर्ष भर अध्ययन करता है। उसका उद्देश्य 'तीन घण्टे की होने वाली परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करना होता है। छात्र के प्रवेश के साथ ही परीक्षा का संकल्प जुड़ा होता है। ठीक इसी प्रकार "मुनित्व" में प्रवेश समाधिमरण "रूप जीवन की परीक्षा को अविचिलित भाव से उत्तीर्ण करना हुआ करता है"। मुनिव्रत की उपमा यदि सूर्य से दी जाए तो दीक्षा ग्रहण करना उसका उषाकाल है, सम्यक् चारित्र पालन तपोमय मध्याह्न बेला है और सल्लेखना-सन्ध्या है। जैसे सूर्य उदय काल में प्रसन्न-अरुणिमा लिए हुआ करता है, वैसा ही अस्ताचल के समय होता है।

"भगवती आराधना" में पाँच प्रकार के मरण का प्रसंग आया है। पण्डित-पण्डित मरण, पण्डित मरण, बाल-पण्डित मरण, बाल-मरण एवं बाल-बाल मरण। इनमें पण्डित मरण वस्तुतः समाधिमरण ही है। निर्दोष चरित्र के धारी व रत्नत्रय के आराधक छठे गुणस्थान के धारक मुनिराजों से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के मुनिराजों को पण्डित मरण का अधिकारी माना है।

क्षपक यानी सल्लेखना का धारण करने वाला, मृत्यु पर "जय" पाने की इस अद्भुत कला/प्रयोग द्वारा जीवन को विशुद्ध बनाता है जैसे स्वर्ण अग्नि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कार से शुद्ध हो कर निखर जाता है। जैसे साँप कॉचुली उतार देता है ऐसे ही ज्ञानी व वीतरागी-पुरुष समाधिमरण धारण करके एक व्याधि-जनित असमर्थ या वृद्ध शरीर को छोड़ देता है। वह राग नहीं करता न इसके छूट जाने के लिए रोता या कलपता है। वह तो "यम" को चुनौती देकर अपनी आँखों से मृत्यु का दृष्टा बना है। शरीर से राग तो आसक्तिमान करते हैं, जिनका मन संसार में रमना चाहता है उन्हें ही मृत्यु भयभीत करती है।

संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्ये भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुन: सोऽपि, ज्ञान-वैराग्य वासिनाम् ।। (९०-समाधिसप्तदशी)

जो आत्माएं आत्मस्वरूप को जानती हैं और वैराग्य धारण करती है उन्हें मृत्यु आनंददायी है।

तिब्बत में एक प्रयोग होता है-"बारदो"। बारदो एक अद्‌भुत प्रयोग है। आदमी मरता है, तो उसके आसपास अनेक भिक्षु खड़े होकर चिल्लाकर कहते हैं-"होश रख, संभल, बेहोश मत हो जाना, बड़ा मौका आया है। वे उसे जगाते हैं। कहते हैं-घबराओ मत। शरीर से प्राण इस प्रकार छूटेगा। तू मर नहीं गया है, सिर्फ शरीर छूट रहा है। भिक्षु सचेत रहने के लिए कहता है। लेकिन सचेत उसको रखा जा सकता है। जिसने जीवन में सचेत होने का प्रयोग किया हो। बारदो का यह प्रयोग सल्लेखना के बहुत निकट है।

मृत्यु को खुली आंखों से देखना-परम साहसी और पराक्रमी पुरुष की ही कहानी हो सकती है। जिन्होने जीवन को ही सही ढंग से नहीं जिया होता, वे मृत्यु को नहीं देख पाते। मृत्यु उनके पास आए इसके पहिले वे मूर्च्छित होकर ऑख मूँद लेते हैं। जो जिन्दगी भर शरीर के साथ जीते हैं, वे मृत्यु को रूबरू देखने का साहस नहीं जुटा पाते हैं। लेकिन जो शरीर के तल से ऊपर उठ गए होते हैं, उन्हें मृत्यु "चिरनिद्रा" नहीं चिर-जागरण बनकर आती है। सुकरात का वह किस्सा याद आता है जब उसके लिए जहर घोला जा रहा था और सुकरात अन्दर गया, कहा कि अभी तक जहर पिसा नहीं? जहर पीसने वाले ने कहा-तुम बड़े अजीब व्यक्ति हो-लोग तो यह सोचते हैं कि जहर के पिसने में जितनी देर हो जाय, उतना ही अच्छा है, पर तुम पूछ रहे हो कि जहर अभी तक पिसा नहीं, सो क्या बात है? सुकरात ने कहा था कि मैं जीने का आनन्द तो अभी तक खूब ले चुका-अब मृत्यु का साक्षात्कार करके उसका आनन्द लेना चाहता हूँ। कहते हैं कि वह अन्तिम क्षण तक बोलता रहा उसने आभास किया कि मैं शरीर से अलग कुछ हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहीं है-अज्ञानी की मृत्यु मूर्च्छा हुआ करती है लेकिन जब दृष्टि सम्यक्त्व से भर जाती है तो उसके लिए मृत्यु-"प्रज्ञा" बन जाती है उसी की मृत्यु मंगल-महोत्सव होती है।

हमारा कोई जब आत्मीय जन मरता है तो हम बहुत दुखी होते हैं। भ० महावीर से ज्यादा आत्मीय और कौन हो सकता है परन्तु उनके निर्वाण पर मातम नहीं प्रकाश बन के दीप जलाते हैं। वे दीपक ऐसे जीवन के द्योतक हैं जो समर्पण के मूल्य पर प्रकाश बन गए हैं। भ० महावीर का मरण पण्डित मरण है-जिसके बाद जन्म-मरण शृंखला समाप्त हो जाती है। वह मृत्यु जिसमें जन्म ही श्रृंखला नहीं जुड़ी होती-निर्वाण कहलाती है। अस्तु बिना सल्लेखना धारण किए होने वाली मृत्यु-नए जन्म की दात्री होने से वह मंगल महोत्सव नहीं बन पाती।

श्रावक-धर्म की पूर्णता के लिए, जीवन में निर्मल सम्यक्दर्शन की प्राप्ति, निर्दोष चारित्र का पालन (अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत) करना और मरण के अन्त समय में विधि पूर्वक सल्लेखना का ग्रहण करना जरूरी हे। मरण के समय सल्लेखना स्वीकार करने वाला "आराधक" कहलाता है। आराधक को अन्त समय में परिणामों को विशुद्ध बनाए रखने के लिए पहिले से ही अभ्यास करते रहना चाहिए। अस्तु सल्लेखना का अभ्यास जीवन पर्यन्त करना चाहिए कोई बिरला आराधक होता है जो पूर्वाभ्यास के बिना उग्र पुरुषार्थ से अन्त में सल्लेखना धारण कर ले, यह अपवाद है, राजमार्ग नहीं।

राजवार्तिककार भट्टाकलंक स्वामी ने आराधक को आचरित व्रतों और शीलों की रक्षा हेतु सल्लेखना का विधान गृहस्थ-श्रावकों व महाव्रती साधुओं को बताया है। अर्थात् सल्लेखना का अधिकारी-सागार और अनगार दोनों होते हैं। ऐतिहासिक पुरुष सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने महान् तत्ववेता दि० जैन साधु भद्रबाहु के पादमूल में निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण ही थी। उन्होने विचार किया था कि अगर शरीर ठीक है तो उसके रक्षण का ध्यान रखें, अगर रोगी है तो उसकी औषधोपचार करें, परन्तु यदि यह सब करते हुए भी साथ न देवे तो दुर्जनों की तरह त्याग कर देना चाहिए।

समन्तभद्र स्वामी ने सल्लेखना धारण करने की विधि बतायी है कि क्षपक कुटम्ब-मित्रादि से स्नेह दूर कर, शत्रुजनों से वैर भाव हटाकर बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह का परित्याग कर, शुद्ध मन होकर स्वजनों व परिजनों को क्षमा करके प्रियवचनों के द्वारा उनसे भी क्षमा याचना करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्नेह वैरं संगं, परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च, क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः (१२४)

सल्लेखना का फल

पद्मपुराण में रविषेण आचार्य ने समाधिमरण करने वालों को नरक, तिर्यन्च और मनुष्य आयु का बंध न करके नियम से स्वर्ग में महर्द्धिक देव होने को कहा जो स्वर्ग से आकर श्रेष्ठ मनुष्यत्व को प्राप्त होते हैं तथा मुनि धर्म स्वीकार कर शुक्ल ध्यान से निर्वाण प्राप्त करते हैं।

मृत्यु महोत्सव पाठ में समाधि को व्रतों के पालन करने का फल कहा है–

तप्तस्य तपश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलमृत्यु समाधिना।।

आचरित व्रत, तप एवं पढ़ने की सार्थकता, आत्मा की सावधानी सहित समाधिमरण करना है।

जो श्रावक बारह व्रतों को पालता हुआ अन्त समय उपशम भाव से सल्लेखना करता है, वह स्वर्ग के सुख प्राप्त करके क्रम से उत्कृष्ट सुख निर्वाण प्राप्त करता है।[२] ज्ञानी पुरुष सल्लेखना के द्वारा मृत्यु को साता कर्म का उदय मानते हैं, जिसकी कृपा से जीर्ण-शीर्ण शरीर छूटकर नवीन शरीर की प्राप्ति होती है[३] सम्यक्दृष्टि देह को ठीक उसी प्रकार मानता है जैसे किराये के मकान में रह रहा हो। जब तक उसमें रहे यथाशक्य साफ सुथरा रखता है लेकिन मालिक जब भी मकान खाली करवाना चाहे बिना शिकवा-शिकायत खाली कर देने को तैयार रहता है। उसी प्रकार सल्लेखना-मृत्यु के प्रति अभय पैदा करता है। इसीलिए सल्लेखना धारी को "मृत्युञ्जयी" कहा है।

---

१. गृहधर्म मिमं कृत्वा समाधिप्राप्त तत्वतः।
प्रपद्यते सुदेवत्वं, च्युत्वा च सुमानुष्यतां।।

सामायिक पाठ में, "समाधिमरण" किन भावनाओं के साथ किया जाना चाहिए उत्तम रीति से वर्णित है–

साम्यं मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित्।
आशां सर्वा परित्याज्य, समाधि महमाश्रये।।

२. वारस-वएहि जुत्तो, सल्लिहणं जो कुणेदि उवसंतो।
सो सुर-सोक्खं पाविय, कमेण सोक्खं परं लहदि ।।(कार्तिकेयानु प्रेक्षा-३६९)

३. जीर्णं देहादिकं सर्व नूतनं जायते यतः।
स मृत्यु किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा।। (८-समाधिसप्तदशी)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रत्नकरण्ड श्रावकाचार और देवमूढ़ता

–श्री निर्मल जैन
सतना

सम्यग्दर्शन आत्म कल्याण के मार्ग में अनिवार्य कारण माना गया है। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष की तो बात ही दूर, सच्चे धर्म अर्थात रत्नत्रय की प्राप्ति भी नहीं होती। वह आठ अंग वाला सम्यग्दर्शन पच्चीस दोषों से रहित भी होना चाहिये। उन्हीं पच्चीस दोषों में हैं तीन मूढ़तायें। लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता।

यहाँ देवमूढ़ता पर विशेष रूप से चर्चा करना है। आचार्य भगवंतों के स्पष्ट निर्देशों के बाद भी वर्तमान में एकांत पक्षपात के कारण या तो लोगों ने रागी-द्वेषी परिग्रही देवों की पूजा को देवमूढ़ता के दायरे से निकालकर जिनेन्द्रदेव की तरह उनकी पूजा आराधना, मंदिरों में जिनेन्द्रदेव के समक्ष ही उनकी स्थापना करके करना प्रारंभ कर दिया या फिर दूसरी ओर कुछ लोगों ने शासन देवताओं के रूप में मान्यता प्राप्त देवी-देवताओं की सर्वथा उपेक्षा करके उनका स्मरण करना भी मिथ्यात्व बताकर मंदिर में यथायोग्य स्थान पर स्थापित उनकी प्रतिमाओं को मंदिर परिसर से ही निष्कासित करना प्रारंभ कर दिया।

आइये हम अपने सर्वमान्य दिगम्बर आचार्य पूज्य समन्तभद्र स्वामी की देवमूढ़ता विषयक भावनाओं को समझने का प्रयास करें। अनेक खोजी विद्वानों ने इतिहास और प्राचीन ग्रंथों के आधार पर यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध कर ही दिया है कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी बहुश्रुतज्ञ, तपस्वी एवं ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त अत्यंत प्रभावक आचार्य हुए हैं। जैन न्याय तो आज उनकी देन के कारण ही सुलभ है। साहित्य, व्याकरण, आयुर्वेद, तंत्र-मंत्र, ज्योतिष आदि में निपुण होने के साथ ही धर्म की भी विशद और सटीक व्याख्या पूज्य समन्तभद्राचार्यजी ने की है। आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयंभूस्तोत्र और जिनशतक जैसे उत्कृष्ट शास्त्रों की रचना करने के साथ ही श्रावकाचार पर प्रथम स्वतंत्र एवं अनुपम ग्रंथ "रत्नकरण्ड श्रावकाचार" की रचना करके हमारा बहुत बड़ा उपकार उन्होंने किया है।

आचार्य समंतभद्र स्वामी ने अपने गहन चिंतन, बुद्धिकौशल एवं वाक्पटुता के आधार पर तत्कालीन अनेक अन्य मतावलम्बी साधुओं/विद्वानों को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सार्वजनिक रूप से शास्त्रार्थों में हराकर जैन धर्म की जो महती प्रभावना की थी उसे कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में उनके शास्त्रार्थ विजयी स्वरूप का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अन्य मान्य आचार्यों जैसे पूज्य जिनसेनाचार्य, आचार्य शुभचन्द स्वामी, वादिराजसूरि, आचार्य वीरनन्दी, वर्धमानसूरि ने अपने विभिन्न ग्रंथों में आचार्य समन्तभद्र स्वामी का श्रद्धा सहित स्मरण करते हुए उनके अवदान की प्रशंसा की है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार ऐसा ग्रंथ है जो भव्यजीवों को मिथ्यात्व और अविरति से बचाकर सम्यग्दर्शन व देशचारित्र ग्रहण करने की प्रेरणा भी देता है और श्रावक के लिये एक आचार संहिता भी प्रस्तुत करता है। बाद में कुछ अन्य आचार्यों ने भी स्वतंत्र रूप से श्रावकाचार ग्रंथों की रचना की है। पं० आशाधरजी द्वारा लिखित "सागार धर्मामृत" भी एक अच्छा श्रावकाचार है, परंतु प्राचीनता और सटीक परिभाषाओं तथा सरल भाषा के कारण समन्तभद्र स्वामी का रत्नकरण्ड श्रावकाचार बहुत प्रचलित हुआ है। श्री प्रभाचन्द्र आचार्य ने इस ग्रंथ की संस्कृत टीका लिखी जो मूलग्रंथ के साथ प्रकाशित है और मूल तथा इस संस्कृत टीका के आधार पर ही इस ग्रंथ की हिन्दी टीकायें लिखी गई हैं।

संवत १९२० में पंडितप्रवर सदासुखदासजी कासलीवाल ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार पर विस्तृत सुबोध भाषा वचनिका लिखी जो बहुत प्रसिद्ध हुई और अनेक जगह से प्रकाशित हुई। इस भाषा वचनिका ग्रंथ की कोई न कोई प्रति प्राय: सभी दिगम्बर जैन मन्दिरों में उपलब्ध हो जाती है तथा शास्त्र गद्दियों पर उसका स्वाध्याय होता है। पंडित खूबचंदजी सिद्धान्तशास्त्री ने भी ग्रंथ की भाषा वचनिका लिखी थी जो बहुत प्रामाणिक और सरल सुबोध मानी गई। पंडित जुगलकिशोरजी मुख्त्यार ने संवत १९८२ में उस समय तक उपलब्ध प्रकाशित एवं अप्रकाशित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की प्रतियों के आधार पर ग्रंथ का सम्यक् संपादन किया जिसका प्रकाशन माणिकचंद ग्रंथमाला बम्बई से हुआ था, इस ग्रंथ में पंडितजी ने जो विशद भूमिका लिखी वह अत्यंत खोजपूर्ण और उपयोगी है।

कन्नड़ और तमिल भाषा में भी रत्नकरण्ड श्रावकाचार की गद्य पद्य टीकायें हुई हैं, आरा के समृद्ध जैन सिद्धान्त भवन में भी एक संस्कृत टीका इस ग्रंथ की है जिसका नाम है "रत्नकरण्ड विषम पद व्याख्यान" इसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं है। पंडित पन्नालालजी सागर ने भी संस्कृत टीका के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वय और सरल हिन्दी रूपांतर के साथ ग्रंथ तैयार किया जिसमें उन्होंने विशेषार्थ के रूप में प्राय: सभी श्लोकों पर अच्छी व्याख्या भी की है। इसकी ५४ पृष्ठीय प्रस्तावना में सम्यग्दर्शन का विशद विवेचन किया गया है एवं ग्रंथ के रचयिता आचार्य समन्तभद्रस्वामी के व्यक्तित्व कृतित्व का भी परिचय दिया गया है। पंडित पन्नालालजी का यह ग्रंथ भी बहुत उपयोगी माना गया, इसके तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

अपने समय के प्रकाण्ड संस्कृत विद्वान ब० भूरामलजी, जो बाद में पूज्य आचार्य ज्ञानसागरजी के नाम से प्रसिद्ध हुए। भी रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ के श्लोकों पर हिन्दी में सरल व्याख्या लिखी जो "मानवधर्म" के नाम से प्रकाशित व प्रसिद्ध हुई। पूज्य आचार्य विद्यासागरजी महाराज ने श्लोकों का भावात्मक पद्यानुवाद किया जो "रयणमंजूषा" नाम से प्रसिद्ध हुआ और अनेक स्थानों से प्रकाशित हुआ। रेवाड़ी से प्रकाशित "मानवधर्म" के नए संस्करण में भी यह पद्यानुवाद समाहित किया गया है। इस संस्करण में बैरिस्टर चंपतराय के द्वारा किया गया ग्रंथ का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित किया गया है।

पंडित गिरधर शर्मा द्वारा किया गया रत्नकरण्ड श्रावकाचार का हिन्दी अनुवाद भी अत्यंत सरल व प्रभावक है। पूज्य आर्यिका ज्ञानमती माताजी के द्वारा किया गया हिन्दी पद्यानुवाद भी भावपूर्ण है। अनेक ग्रंथों का हिन्दी पद्यानुवाद करने वाले पंडित नाथूरामजी डोंगरीय ने भी श्लोकों का अच्छा पद्यानुवाद किया है जो मूल श्लोक और भावार्थ के साथ "रत्नकरण्ड गौरव" के नाम से सन् १९७९ में इन्दौर से प्रकाशित हुआ था। इस ग्रंथ की कुछ नई टीकायें भी प्रकाश में आई हैं जो प्रशिक्षण के लिये उपयोगी हो रही हैं। पूज्य आर्यिका स्याद्वादमती माताजी की प्रश्नोत्तरी टीका बहुत प्रचलित हो रही है। श्री मद् राजचन्द्र साधना केन्द्र कोबा से भी एक संस्करण प्रकाशित हुआ है जिसमें मूल श्लोक के साथ हिन्दी, गुजराती एवं अंग्रेजी अनुवाद भी दिये गये हैं। पाठ्यक्रम में सम्मिलित होने से मूल रत्नकरण्ड श्रावकाचार अन्वय और अर्थ सहित अनेक स्थानों से प्रकाशित हुआ है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार यद्यपि १५० श्लोकों का छोटा सा ग्रंथ है परंतु बहुश्रुतज्ञ आचार्य ने इसमें विषय का पूर्ण विवेचन करके गागर में सागर की उक्ति चरितार्थ की है। श्री प्रभाचन्द्र आचार्य ने इस ग्रंथ को सागर मार्ग प्रकाशित करने वाला निर्मल सूर्य कहा है। ग्रंथ में मंगलाचरण के बाद प्रतिज्ञा रूप में लिखे गये दूसरे श्लोक में ही आचार्य महाराज ने स्पष्ट कर दिया है कि मैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उस समीचीन धर्म का वर्णन इस ग्रंथ में करने जा रहा हूँ जो जीवों को संसार के सभी दुखों से छुटकारा दिलाकर उत्तम सुख में पहुँचा देने की सामर्थ रखता है। यथा–

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।

आगे धर्म की व्याख्या करते हुए तीसरे श्लोक में आचार्य भगवंत ने लिखा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को ही जिनेन्द्रदेव ने धर्म कहा है। सम्यग्दर्शन क्या है इसके उत्तर में वे कहते हैं कि परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु का तीन मूढ़ताओं रहित श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है जो आठ अंग सहित होना चाहिए। फिर ग्रंथ में आप्त-आगम-गुरु के स्वरूप एवं सम्यग्दर्शन के आठ अंगों की विवेचना की गई है। आठ अंगों की दृढ़ता के लिये एक-एक अंग में प्रसिद्ध आठ कथाओं का भी उल्लेख किया गया है। क्योंकि अंगहीन सम्यग्दर्शन संसार संतति छेदने में समर्थ नहीं होता। वह आठ अंग वाला सम्यग्दर्शन जिन तीन मूढ़ताओं से रहित होना चाहिये उनके नाम हैं–लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता।

इसमें देवमूढ़ता का वर्णन करने के लिये रत्नकरण्ड श्रावकाचार में २३ नंबर का श्लोक कहा गया है जो इस प्रकार है–

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवता-मूढमुच्यते।

इस श्लोक की संस्कृत टीका करते हुए आचार्य प्रभाचंद्रजी ने प्रथम तो श्लोक का अर्थ स्पष्ट कर दिया है कि ऐहिक फल की इच्छा रखने वाला जो पुरुष वांछित फल की आशा से रागी-द्वेषी देवों की उपासना करता है वह देवमूढ़ता कहलाती है। फिर उन्होंने स्वयं प्रश्न उठाया कि यदि ऐसा है तो श्रावकों के द्वारा की जानेवाली शासनदेवों की पूजा सम्यग्दर्शन की मलिनता का कारण हो जायेगी। इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया है कि यदि श्रावक यह कार्य वरदान (वांछित फल) प्राप्त करने की इच्छा से करता है तो अवश्य वह देवमूढ़ता है, परंतु जैनशासन में निरत देवता होने के कारण जब उनकी उपासना यथायोग्य सत्कार के रूप में की जाती है तब वह सम्यग्दर्शन की मलिनता का कारण नहीं होती।

आचार्यों की परंपरा सूत्र रूप में ग्रंथ लिखने की रही है, टीकाकार आचार्य एवं विद्वान श्लोक का शब्दार्थ लेकर, ग्रंथ के विषय और पूर्वापर श्लोकों का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विचार करके, तद्विषयक अन्य आचार्यों की मान्यताओं का आधार लेकर और श्रावकों की स्थिति देखकर श्लोकों की टीका/व्याख्या करते हैं। हम यदि इस पद्धति से विचार करें तो यह स्पष्ट है कि आचार्य देवमूढ़ता की बात करके देव के विषय में हमारी अज्ञानता दूर करना चाहते हैं। फल की इच्छा पूर्वक रागी-द्वेषी देवताओं की पूजा का जब निषेध है तब यह तो स्पष्ट ही है कि फल की इच्छा पूर्वक हमें सच्चे वीतराग देव की पूजा उपासना भी नहीं करना चाहिये।

जैनदर्शन का **कर्म सिद्धान्त** कहता है कि हमारी इच्छा पूर्ति में या इच्छा पूर्ति की बाधा में हमारे कर्म का उदय, उपशम, क्षयोपशम प्रमुख कारण होता है, अन्य तो मात्र निमित्त हैं। कर्म की प्रतिकूलता में कोई चाहे भी तो हमारी इच्छा पूर्ति में सहायता नहीं कर सकता और कर्म की अनुकूलता में किसी के द्वारा की गई बाधा भी बाधक नहीं हो पाती। फिर रागी-द्वेषी देव कथंचित् हमारी पूजा से प्रसन्न होकर हमारी इच्छा पूर्ति में हमारे कर्मोदय के अनुसार सहायक हो भी जायें, परंतु वीतराग देव न तो प्रसन्न होने वाले हैं और न ही कुछ सहायता करने वाले हैं। फिर लौकिक इच्छा पूर्ति के लिये पूजा-उपासना-याचना क्यों।

फल की इच्छा पूर्वक रागी-द्वेषी देवताओं की पूजा-उपासना के निषेध से एक अर्थ यह भी प्रतिध्वनित होता है कि धर्माराधना में सहायक शासन देवी-देवताओं की यथायोग्य पूजा-उपासना बिना लौकिक इच्छा अभिलाषा के करने के लिये मना नहीं किया जा रहा है। यह तो तय है कि शासन देवी-देवता रागी-द्वेषी ही होते हैं, उनका जन्म तो मिथ्यात्व पूर्वक ही होता है, भले ही बाद में किसी ने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया हो। फिर यदि किसी भी प्रकार और किसी भी कारण से उनकी पूजा-उपासना यदि **आचार्य समंतभद्र महाराज** को इष्ट न होती तो वे सीधे सीधे रागी-द्वेषी देवों की पूजा-उपासना को देवमूढ़ता कहते, उसमें फल की इच्छा पूर्वक वाली शर्त क्यों लगाते।

अब एक बात और विचारणीय है कि स्वयं आचार्य समंतभद्र स्वामी इस ग्रंथ के ३० नंबर श्लोक में कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव को भय, आशा, स्नेह और लोभ से भी कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र को नमस्कार/विनय नहीं करना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भयाशास्नेह लोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ।।

ग्रंथ में पहले की गई सच्चे देव की परिभाषा के अनुसार शासन देवी-देवता भी कुदेव ही कहे जायेंगे। यदि धर्माराधना में सहायक होने से हम उनकी विनय करते हैं तो उसमें स्नेह तो कारण हुआ। तब यह विनय वर्जित हुई।

आगम में अन्यत्र हमें ऐसी विनय करने का भी निर्देश दिया गया है। आचार्य सोमदेव यशस्तिलक चम्पू ग्रंथ में कहते हैं–

ताः शासनादिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे।
अतो यज्ञांशदानेन माननीयाः सुदृष्टिभिः।

अर्थात् जिन शासन की रक्षार्थ उन शासन देवी-देवताओं की कल्पना परमागम में की गई है अतः सम्यग्दृष्टि जीवों के द्वारा उन्हें यज्ञांशदान से सम्मानित किया जाना चाहिये।

ऐसी स्थिति में उचित तो यह लगता है कि जिनशासन में मान्य देवी-देवताओं की मंदिर के बाह्य भाग में यथायोग्य स्थापना और उनकी उपचार विनय अष्टांग-पंचांग नमस्कार के बिना करने में तथा विधान प्रतिष्ठा आदि के समय उनको यज्ञांश के रूप में अर्घ, स्वाहा आदि बोलकर नहीं अपितु 'अर्घ ग्रहाण-ग्रहाण' बोलकर समर्पित करने में हमारे सम्यग्दर्शन में मलिनता नहीं आना चाहिये। हां किसी वांछा के लिये यदि उनकी उपचार विनय भी की जाती है तो वह मिथ्यात्व ही होगा और उससे हमारा सम्यग्दर्शन मलिन तो क्या नष्ट हो जायेगा।

सम्यग्दृष्टि श्रावक देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव के अतिरिक्त और किसी की पूजा-उपासना नहीं करता। यही हमारे लिये करणीय है, यह हमारे षट् आवश्यक का भी एक अंग है।

वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
4607
(का. हि. वि. वि.) वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

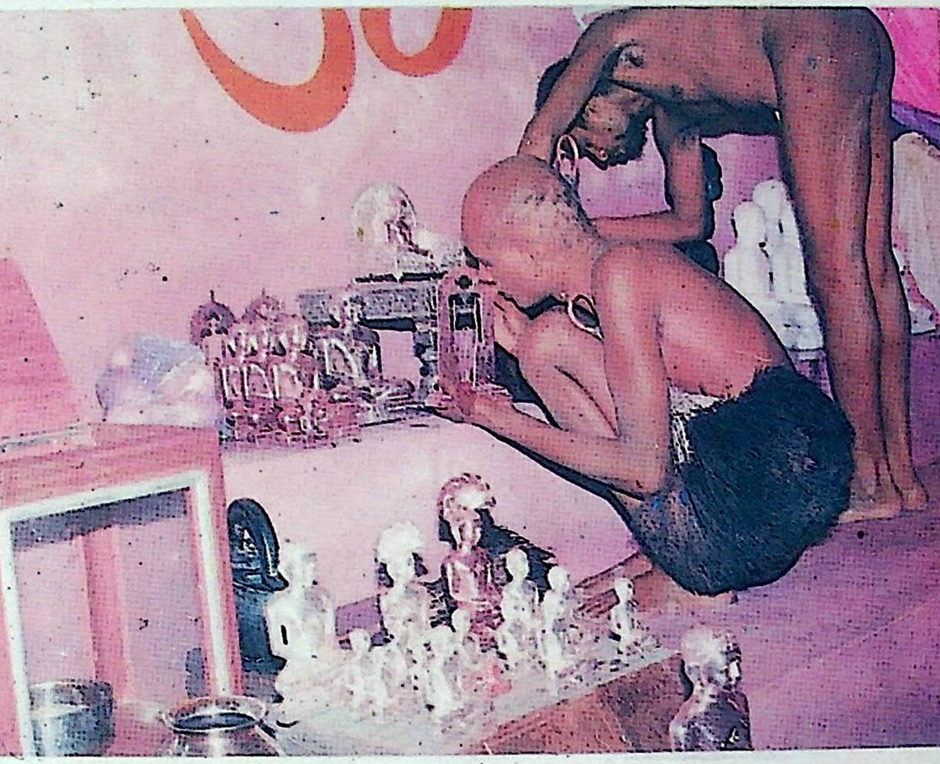

उपाध्याय 108 ज्ञानसागर जी एव
वैराग्य सागर जी महाराज मूर्तियों में सूर्य मन्त्र प्रदान करते हुए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाराज श्री आदिकुमार के कपड़े उतारते हुए

पुस्तक-प्राप्ति स्थल

डा० जयकुमार जैन

261/3, पटेल नगर, मुजफ्फरनगर

फोन : 0131-403730

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi